

कुरुक्षेत्र

[प्रबन्ध-कविता]

कवि द्वारा लिखित व्याख्यात्मक टिप्पणियों सहित नवीन संस्करण

रामधारी सिंह दिनकर



राजपाल एण्ड सन्स कश्मीरी गेट दिल्ली

विकृति

यद्यपि 'कुरक्षेत्र' का प्रकाशन उपवाचन से होता रहा है। किन्तु यद्यपि उपवाचन को बहू भोटिष्ठ है ही है कि वह बुझसे निर्मित अनुमत नियो बिना मेरी कोई भी बुझसे प्रकृतित न करे। अतएव 'कुरक्षेत्र' के यह नया संस्करण उपवाचन एवम ग्रंथ के यहाँ से प्रकृतित ही रहा है।

'कुरक्षेत्र' के बीम-बाईस संस्करण निकल चुके हैं। चूँकि बहुत ज़ीने में है कुरक्षेत्र का मूळ नहीं हैग ताका का इसम पुस्तक के जहाँ-हाँ यनेक मूर्ते रह बपी थी। इन बार मीने परिमय करके मूर्ते सुधार दी है।

कुरक्षेत्र पुस्तक कई जगहा पर पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में पढ़ापी जाती है। कई प्रसंगों को लेकर छात्रो और शिक्षकों के मुझे पत्र लिखे थे। उन प्रसंगों में से कुछ बार समीचीन टिप्पणियाँ इस संस्करण में जोड़ दी बपी हैं। अतएव है एम टिप्पणिका से छात्रो और शिक्षकों को बोझा प्रकृतित मितान।

नई दिल्ली
१९८५-८६

—रामधारी सिंह दिग्दर्शक

मूल्य : छह रुपये (6.00)

© रामधारी सिंह दिग्दर्शक

प्रकाशक एम एम संस्कृत १९८५

KURUKSHETRA (Ed.) by Ram Dhari Singh Dikshar

निषेदन

'क्रुस्नेत्र' की रचना भगवान् व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को बुझाना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था वह मुनिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाने बिना भी कहा जा सकता था किन्तु, तब यह रचना सामद, प्रबन्ध के रूप में नहीं उतरकर मुक्तक बनकर रह गयी होती। तो भी यह सच है कि इस प्रबन्ध के रूप में जाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी। बात यों हुई कि पहले मुझे अशोक के निबंध ने आकर्षित किया और 'वर्णिग-विजय'* नामक कविता लिखते लिखते मुझे ऐसा लगा मानो बुद्ध की समस्या अनुष्य की सारी समस्याओं की जड़ हो। इसी रूप में आपर की ओर देखते हुए मैंने मुनिष्ठिर को देखा, जो 'विजय' इस छोटे-से शब्द को क्रुस्नेत्र में लिखी हुई सार्थी से लेना रहे थे। किन्तु यहाँ भीष्म के धर्म-कथन में प्रश्न का दूसरा पक्ष भी विद्यमान था। धारमा का संग्राम धात्मा से और बेहू का संग्राम बेहू से बीता जाता है। यह क्या युद्धान्त की है। युद्ध के धारम्भ में स्वर्ग भगवान् ने धर्मज्ञ से जो कुछ कहा था उसका सार्थक भी धारमा के विरोध में उपस्था के प्रवर्तन का निवारण ही था।

युद्ध निश्चित और क्रूर कर्म है किन्तु, उसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उस पर जो पनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को धारमन्त्र देता है? या उस पर, जो जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए यादर है? पाण्डवों को निर्वासित करके एक प्रकार की शांति की रचना बन ने भी की थी तो क्या मुनिष्ठिर महापुरुष को इस शांति का इतरा चाहिए था?

। कुछ मोटी बातें हैं, जिनपर सोचते-सोचते यह काव्य पूरा हो । भीष्म और मुनिष्ठिर का आत्मन्त्र लेकर मैंने इस पापम कर देने वाले प्रश्न को प्रापः, उसी प्रकार उपस्थित किया है, बीता में उसे समझ सका हूँ। इसलिये, मैं अब भी शका नहीं करता कि 'क्रुस्नेत्र' के भीष्म और

* यह कविता 'जानकी' में उल्लिखित है।

मुचिष्ठिर टीक-टीक महाभारत में ही मुचिष्ठिर और भीष्म हैं। यद्यपि मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रखा है कि भीष्म अपना मुचिष्ठिर के मूल से कोई ऐसी बात न निकल जाय जो द्वार के लिए सर्वथा घस्या भावित हो। हाँ इतनी स्वतन्त्रता लेकर ही नहीं है कि जहाँ भीष्म किसी ऐसी बात का वर्णन कर रहे हों जो हमारे मूल के अनुकूल पड़ती हो उनका वर्णन नये और बिना रूप से कर दिया जाय। वहीं कहीं इस अनुमान पर भी काम लिया गया है कि जहाँ प्रश्न से निश्चय-जुलते किसी अन्य प्रश्न पर भीष्म पितामह का उत्तर नया हो सकता था। एक तो यह है कि “यन् भारतं तन् भारतं” की कहावत अब भी बिमबुल योग्य नहीं हुई है। अब से मैंने महाभारत में भीष्म द्वारा कथित उजड़-बहीन समाज एवं ध्वंसीकरण की भोक्ति (स्वास्थ्य धर्म पानिती) का वर्णन पड़ा है, अब से मेरी यह धारणा और भी बसबसी हो गयी है।

यहाँ कोई भी ऐसी उद्गम घायी है जिसका संबंध द्वार से नहीं बैठता उसका मातृ-व्यक्ति मैंने अपने ऊपर से लिया है। ऐसे प्रत्यक्ष घपनी प्रसिद्धता के कारण पाठकों की पहचान में घाप ही घा जायेंगे। पूरा का पूरा छग सर्व ऐसा ही शेषक है जो इस काव्य से टूटकर घसग भी जा सकता है।

अन्त में एक निवेदन और। ‘कुण्डल’ के प्रकरण की एकटा जन्में बर्णित विचारों की लेकर है। हर-असल इस पुस्तक में मैं प्रायः साक्ष्य ही रहा हूँ। भीष्म के नामने पहुँचकर कविता जैसे भ्रम-भी गयी ही। फिर भी ‘कुण्डल’ न तो वयन है और न किसी आनी के प्रौढ़ मतिवृद्ध का बलवार। यह तो अन्तः, एक साधारण मनुष्य का संसारुन हृदय ही है जो मतिवृद्ध के रगर पर बड़बड़ बोल रहा है। तबालु।

धारा }
२ २ }

—रामधारी सिंह बिनका

प्रथम सर्ग

वह कौम रोता है वहाँ—

इतिहास के अध्याय पर,
 जिसमें लिखा है मौजवालों के लहू का मोस है
 प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्याहार का
 जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष बनस है,
 जो धाप तो लड़ता नहीं,
 कटवा कियोरी का मगर,
 घावबस्त होकर सोचता,
 खोपित बहा, लेकिन यही सब साज सारे वेष्ट की ?

और तब सम्मान से आते गिने
 नाम उनके, देश-मुक्त की आसिमा
 है वही जिनके मुटे सिन्दूर से,
 देश की इज्जत बचान के लिए
 या बड़ा जिनने दिये निज लाल हैं।

ईश जानें, देश का सज्जा विषय
 तत्व है कोई कि केवल धारण
 उस हसाहस-सी कुटिल द्राहाग्नि का
 जो कि जमती आ रही चिरकास से
 स्वाप लोतुप सम्भता के धवभी
 मामकों के पेट में जठराग्नि-खो।

विश्व-मानव के हृदय निर्दोष में
 मूम हो सकता नहीं द्रोहान्नि का,
 चाहता सड़ना नहीं समुदाय है,
 फँसती सपटें विवेकी व्यक्तियों की साँस से।

हर युद्ध के पहले विषा सड़ती उबलते श्रेण से,
 हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या सत्य ही—
 उपचार एक समोच है
 धर्म्याय का, अपकर्ष का बिय का, परसमय द्रोह का।

सड़ना उसे पड़ता मपर।
 धौं चीतने के बाद भी,
 रगभूमि में वह देखता है सत्य को रोता हुआ,
 वह सत्य है जो रो रहा इतिहास के धर्म्याय में
 विजयी पुरुष के नाम पर कीपड़ नयन का जलता।

उस सत्य के घाघात से
 हैं झलझला उठनी सिराएँ प्राण की घसहाय-सी,
 सहसा बिपंभी पर सने कोई अपरिचित हाथ ज्यों।
 वह तिममिला उठता, ममर,
 है जानता इस चोट का उत्तर न उसके पास है।

सहसा हृदय को तोड़कर
 कड़ती प्रतिध्वनि प्राणयत् अनिवार सत्याचार की—
 मर का बहामा रक्त, हे भगवान ! मैंने क्या किया ?

संश्लिप्त, मनुज के प्राण, घायव, पर्यरों के हैं बने ।
 इस दश का कुल मूस कर
 होता समर-भास्व फिर,
 फिर मारता मरता,
 निबम पाकर बहाता यशु है ।

ओं ही, बहुत पहले कमी कुदभूमि में
 नर-मेष की सीसा हुई जब पूर्ण थी
 पीकर सहृ जब घादमी के बस का
 बर्चाग पाण्डव भीम का मन हो चुका परिशान्त था ।

धीर जब द्रुत-मुक्त-केही द्रौपदी
 मानवी धमवा ज्वलित ज्वापत सिखा प्रतिक्षोप की
 बात धपने पीस धन्विम क्रोध से,
 घादमी के गर्म लोहू से चुपड
 रक्त-बेपी कर चुकी थी केश की
 केश जो तेरह बरस से थे सुने ।

धीर जब पबिकाय पाण्डव भीम न
 द्रोण-सुत के सीस की मणि छीन कर
 हाथ में रख दी प्रिया क मग्न हो
 पाँच नन्हें बालकों क मूह्य-सी ।

कौरवों का आढ़ करने क लिए
 या कि रोने को बिठा के सामने
 रोप अब था रह गया कोई नहीं
 एक बूढ़ा एक धमके के सिवा ।

घोर जब

तीव्र हृष-निगाह उठ कर पाण्डवों के चिबिर से
धूमता फिरता गहन कुक्षत्र को पृथभूमि में,
सङ्भङ्गाटा-सा हवा पर एक स्वर निस्सार-सा,
झोट घाता या मटक कर पाण्डवों के पास ही,
जीवितों के कान पर मरता हुआ
घोर उनपर व्यग्य-सा करता हुआ—
'देख तो बाहर महा मुनघाम है
सायता बिनका हृदय में लोग वे सब जा चुके ।

हृष के स्वर में छिपा जो व्यग्य है
कीम मुन समझ उसे ? सब लोग तो
मर्द-मृत-से हा रहे मानस्य से
बय-मुण की सनसनी मे बतना निस्पन्द है ।

किन्तु, इस उत्साह-बढ़ समुद्राम में
एक ऐसा भी पुरुष है जो बिनस
बोसता कुछ भी नहीं पर रो रहा
मन्य विश्वासीन अपने-आप में ।

सत्य ही तो जा चुके सब लोग हैं
दूर ईर्ष्या-श्रुप हाहाकार से ।
मर गय जो वे नहीं सुनते इस
हृष का स्वर जीवितों का व्यग्य है ।'

स्वप्न-सा देसा, सुषासन कह रहा—
या मुषिष्टिर सिम्पु के हम पार हैं,
तुम बिशामे क लिए जो कुछ कहो
किन्तु कोई बात हम सुनते नहीं ।

“हम वहाँ पर हैं, महामारुत वहाँ
वीलता है स्वप्न अन्त-भूम-सा,
जो पटित-सा तो कभी सगता, मगर,
अप्य जिसका अद न कोई पाव है।

“भा गये हम पार, तुम उस पार हो,
यह पराभय या कि अय किसकी हुई?
अप्य, पश्यात्ताप, अन्तर्बाहू का
अद बिजय-उपहार भोगो चैत से।”

हर्ष का स्वर धूमता निस्सार-सा
सड़सडाता मर रहा कुस्लोत्र में
धौं मुपिष्ठिर सुन रहे अम्बक-सा
एक रव मन का कि अ्यापक घून्य का।

‘रक्त से सिख कर समर की मेदिनी
हो गयी है आल मीचे कोस-मर,
धौर ऊपर रक्त की सर धार में
तेरते हैं अंम रप गज, बाजि के।

‘किन्तु, इस बिध्वंस के उपरान्त भी
शेष क्या है? अप्य ही तो भाग्य का?
आहता या प्राप्त में करना जिसे
तत्त्व वह करमत हुमा या उड़ गया?

‘सत्य ही तो, मुष्टिगत करना जिस
आहता भा, अनुमों के साथ ही
उड़ गये वे तत्त्व, मेरे हाथ में
अप्य, पश्यात्ताप केवस छोड़कर।

'यह महाभारत युवा निष्कम हुआ,
उफ! ज्वलित किसमा गरममय ध्वंम्यहै?
पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार पूरे देश का।

'श्रीपत्नी हो विष्य-वस्पासंकुता
धीर हम भोगें महम्मय राज्य यह
पुन पति हीना इसी से तो हुई
कोटि माताएँ करोड़ों नारियाँ।

'रक्त से छाने हुए इस राज्य को
बन्ध हो कैसे सकेगा भोग में?
भावनी के कन में यह है सना
घोर है इसमें सह अभिमन्यु का'।

बप्प-सा कुछ टूटकर स्मृति से गिरा,
दब गये कौन्तेय दुर्बह मार से,
दब गयी वह बुद्धि जो सब तक रही
सोचती कुछ तत्त्व रण के मस्म में।

मर गया ऐसा हृदय दुस-दद-से
कम या बुबबुद नहीं उसमें सठा।
सौंभकर उम्भवास बोले शिर्ष के
'पाप मैं जाता पितामह पास हूँ।'

धीर ह्य निनाद अन्त-शून्य-सा
सङ्कटाता मर रहा था शत्रु में।

द्वितीय सर्ग

धायी हुई मृत्यु से कहा अजेय भीष्म ने कि
 'योग नहीं जान का अभी है इसे जानक
 रुकी रही पास नहीं' और स्वयं मट गय
 बाधों का ध्यान बाण का ही उपबान कर
 ब्यास कहते हैं रहे यों ही ने पड़ विमुक्त
 काम के करों से छीन मुष्टि-गत प्राण कर
 और पंच जोहती विनीत नहीं भासपास
 हाय जोड़ मृत्यु रही सड़ी दास्ति मान कर।

शृङ्ग पड़ जीवन के धार-धार हेरते-से
 योगसौम सेटे से पित्तमह गभीर-से।
 देसा धर्मराज ने, बिमा प्रसन्न फंस रही
 स्वैत शिरोरुह धर प्रपित धरीर से।
 करते प्रणाम छूटे सिर से पबित्र पद,
 उंगली को थोते हुए साधनों के नीर से,
 'हाय पित्तमह महामारत विफस हुआ'
 भील उठे धमराज ब्याकुल, धधीर-से।

बीर-गति पाकर सुयोधन समा गया है,
 छोड़ मेरे सामने अशेष ध्वंस का प्रसार,
 छोड़ मेरे हाथ में शरीर निज प्राणहीन
 ध्योम में बनाता जय-मुन्दुमि-सा धार-धार,
 और मह मूठक शरीर जो बना है शेष
 श्रुप श्रुप मानो पूछता है मुझसे पुकार—
 विजय का एक उपहार मैं क्या हूँ बोसो
 जीत किसकी है और किसकी हुई है हार?

"हाय पितामह हार किसकी हुई है यह ?
 ध्वंस-भवरोप पर सिर चुनता है कौन ?
 कौन मम्मराशि में बिफस सुख दूँकता है ?
 कपटों से मृकुट का पट चुनता है कौन ?
 पीर बैठ मानव की रथ-सरिता के तीर
 नियति के ध्यंग्य भरे ध्वज गुनता है कौन ?
 कौन बेसता है शबदाह बन्धु-भाण्डवों का ?
 उचारा का बद्ध विभाप सुनता है कौन ?

"जामता कहीं जो परिणाम महाभारत का
 तन-बल छोड़ मैं मनोबल से चढ़ता
 तप से, सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को
 जीन, नयी नींव इतिहास की मैं घरता ।
 पीर कहीं वष्य गमता न मेरी भाह से जो
 मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता
 ता भी हाय यह रक्त-पाठ नहीं करणा मैं
 भाइयों के सग कहीं भीष माँग करता ।

"किन्तु हाय जिस दिन बाया गया युद्ध-भोज
 साध दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने,
 उभट दी मति मेरी भीम की गधा ने पीर
 पार्य के पारासन ने घपनी वृषाण ने
 पीर जब पञ्चम को मोह हुआ रण-वीथ
 बुझती शिक्षा में दिया धृत भगवान ने
 सबकी सुबुद्धि पितामह हाय मारी गयी
 सबको बिभट किया एक धर्मिमान ने ।

"दृष्ट्य कहत है युद्ध धनप है, किन्तु मेरे
 प्राण जलते हैं पस-पस परिठाप से,
 जगता मुझे है क्यों मनुष्य बच पाता नहीं
 बहामान इस पुराचीन अभिघाप से?
 और महाभारत की बात क्या? गिराये गये
 जहाँ छल-छद्म से वरेष्य वीर प्राप-से,
 अभिमन्सु-बध औ' सुयोधन का बध हाय,
 हममें बचा है यहाँ कौन, किस पाप से?

"एक धोर सत्यमयो गीता भगवान की है
 एक धोर जीवन की चिरति प्रबुद्ध है,
 जानता है सटना पडा या हो विवस, किन्तु,
 सोह-सनी पीत मुझे दोखटी भद्युद्ध है,
 ध्वंसजन्य सुख याकि साशु दुख दान्तिजन्य
 मात नहीं, कौम बात नीति के विरुद्ध है,
 जानता नहीं मैं कुस्त्र में लिखा है पुष्य,
 या महान पाप यहाँ फूटा बम युद्ध है।

"सुसन हुआ है जो किरोट कृस्वधियों का,
 उसमें प्रचण्ड कोई बाहक बनल है,
 अभियेक से क्या पाप मन का धमगा करी ?
 पापियों के हित तौर्य-बारि हसाहस है
 विजय करास नागिनी-सी बेंसती है मुझे,
 इससे न जूमने को मेरे पास बल है
 ग्रहण करूं मैं कंस ? वार-वार सोचता हूँ,
 राजसुल साहू मरी कीष का कमल है।

"बासहीना माता की पुकार कभी जाती, और
 जाता कभी भार्त्तनाद पितृहीन बास का,
 भास पड़ती है वही, हाथ वही देखता हूँ
 सेंदुर पुँछा हुआ सुहागिनी के भास का,
 बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूँ कभी,
 तो भी सुमता हूँ भट्टहास तूर कास का।
 और छोटे-आगते में बाँक उठता हूँ मानो
 घोषित पुकारता हो प्रजून के भास का।

'शिव दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई,
 एक भाग ठब से ही जलती है मम में,
 हाथ पितामह किसी भीति नहीं देखता हूँ
 मूँह दिखलाने योग्य निज को भुवन में,
 ऐसा भगता है, लोग देखते घृणा से मुझे,
 धिक सुनता हूँ अपने पे कण-कण में,
 मानव को देख बाँसों भाप शुक जातीं मन
 चाहता प्रकेसा कहीं भाग जाऊँ वन में।

"कहाँ आत्मघात तो कसक और घोर होगा
 नगर को छोड़ अतएव वन जाऊँगा ;
 पशु-क्षय भी न देख पायें अहाँ छिप किसी
 कन्दरा में बँठ जयु सुनके बहाऊँगा,
 जानता हूँ, पाप न घुमगा वनबास से भी
 छिपा तो रहूँगा, पुस्त कुछ तो भुलाऊँगा।
 ध्यंम्य से विषमा वहाँ अर्जर हृदय तो नहीं,
 वन में कही तो धर्मराज न कहाऊँगा।"

धीर तब रूप हो रहे कौन्तेय,
 संयमित करके किसी बिध शोक दुष्परिमेय
 उस जनद-सा एक पारयवार
 हो मरा जिसमें लबायब किन्तु, जो साधार
 बरस तो सकता नहीं, रहता मगर बेपैन है।

भीष्म ने देखा गगन की ओर
 मापत, मानो, युधिष्ठिर के हृदय का छोर,
 धीर बोले, 'हाय नर के माग!
 क्या कभी तू भी तिमिर के पार
 उस महतु प्रादम के जग में सकेगा जाग
 एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है
 यात्र दुरु से, बेद से, निबंद के घायात से?'

धौं युधिष्ठिर से कहा, "तूफान देखा है कभी"
 किस तरह आठा प्रलय का मादवह करता हुआ,
 कास-सा बन में झुमों को ठोड़ता झकझोरता,
 और भूसोभ्येद कर भू पर सुलाता-काश से
 उन सहस्रों पादपों को जो कि धीनाधार हैं।
 रण्य पासाएँ झुमों की हुरहुरा-कर टटतीं,
 टट गिरते दाबकों के साथ भीड़ बिहंग के,
 मग भर जाते बजानी के निहत तद गुल्म से,
 छिन्न कूर्तों के दलों से, शसियों की देह से।

पर गिराएँ जिस महोरह की घतल में है पड़ी,
 वह नहीं नयमीठ होता कूर सम्भवात से।
 सीस पर बहता हुआ तूफान आठा है बना,
 मोपता कुछ पत्र या कुछ शसियों को ठोड़ता।

किन्तु, इसके बाद जो कुछ होय रह जाय। उसे
 (वन बिम्ब के क्षय, बनानी के कल्प वैषम्य को)
 देसता जीवित महोरुह कोक से, निर्वेद से
 क्सास्य पशों को सुबाये, स्तम्भ मौनाकाश में
 शोचता 'हे भिजती हमको प्रकृति तुफान क्यों ?'

पर, नहीं यह सात, उद्य जड़ बुल को,
 प्रकृति भी तो है धर्मीन बिम्ब के ।
 मह प्रभजन शस्त्र है उसका नहीं,
 किन्तु, है धावेगमय बिस्कोट उसके प्राण का,
 जो बना होता प्रचंड निवास से
 फूटना जिसका सहज धनिवार्य है ।

यों ही मरों में भी बिकारों की धिक्कार्य धाग-डी
 एक से मिन एक जसती है प्रचम्भावेग से,
 तप्त होता क्षुद्र धन्तर्भ्याम पहल व्यक्ति का,
 और तब उठता बधक समुदाय का धाकाय भी
 शोभ से बाहक पूजा से, गरल ईर्ष्या द्वेष से ।

अद्विषा इस भाँति जब तैयार होती है, सभी
 युद्ध का ज्वालाभुली है फूटता
 राधर्मेतिक उसभर्तों के ध्यान से
 या कि बेशापम का धवसम्भ से ।

किन्तु, सबके मूल में रहता हुआहम है बही
 फेसता है जो पूजा से, स्वार्थमय विद्वेष से ।

युद्ध को पहचानते सब लोग हैं,
 जानते हैं युद्ध का परिणाम धम्भितम ध्वस है !
 सत्य ही तो कोटि का बध पाँच के सुख के लिए ।

किन्तु, मरुत समझो कि इस कुस्लोप में
 पाँच के सुख ही सदैव प्रधान थे,
 युद्ध में मारे हुएों के सामने
 पाँच के सुख-दुख नहीं उद्देश्य केवल मात्र थे।

और भी ये मात्र उनके हृदय में,
 स्वार्थ के, मरता कि चलते शौर्य के,
 लीच कर जिसने उन्हें धागे किया,
 हेतु उस धावेरा का या और भी।

युद्ध का उमाद संक्रमणोप है,
 एक चिनगारी कहीं जागी धगर,
 सुरत बहु उठत पवन उनपास है,
 दौड़ती, हँसती, उबसती प्राग चारों धोर से।

और तब रहता कहीं अककास है
 तत्त्वचिन्तन का, गभीर विचार का ?
 युद्ध की लपटें चुनीठी भेजतीं
 प्राणमय मर में सिपे शार्दूल से।

युद्ध की सतकार सुन प्रतिशोध से
 दीप्त हो अमिमान उठता बोन है,
 चाहता नस छोड़कर बहना लह,
 या स्वयं तसवार जाती हाथ में।

इण्ड होना चाहता कोई नहीं,
 रोम मेकिन या गया जब पास हो
 तिकत धोपधि के सिवा उपचार क्या ?
 धमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से।

हे मुवा तेरे हृदय की चस्पना,
मुद करना पुष्य या दुष्पाप है,
क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुष्य हो या पाप हो।

सत्य ही मगवान ने उस दिन कहा
'मुष्य है कर्ता-हृदय की भावना
मुष्य है यह भाव, जीवन-मुद में
मिन्न हम कितना रहे निज कर्म से।

घौ' समर तो घोर भी घपबाद है,
बाहता कोई नहीं इसको मगर
जुम्ना पड़ता सभी को, धनु जब
धा मया हो डार पर लसकारता।

हे बहुत रेखा-मुना मीने मगर,
भेद कुस पाया न धर्मायम का,
मात्र तक ऐसा कि रेखा सीध कर
बाट दूँ मैं पुष्य को घौ' पाप को।

जानता हूँ किन्तु, जाने के लिए
बाहिए बगार धसी बीरता,
पाप हो सकता नहीं वह मुद है
जो सड़ा होता स्वमित प्रतिघोष पर।

छीनता हो स्वत्य कोई, घोर दू
र्याग-तप से काम से वह पाप है।
पुष्य है बिच्छिन्न कर देना उसे
बड़ रहा सेपी तरफ जो हाप हो।

बढ़ 'विदग्ध' और सामनहीन को
 है उचित भवेत्सम्ब यपनी प्राह का,
 गिड़गिड़कर किन्तु ममि भीक्षु क्यों
 यह पुरुष, जिसकी मुखा में शक्ति हो ?

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर,
 जब तक है उठ रहीं बिनगारियाँ
 मिन स्वार्थों के कुमिद-सवप की,
 युद्ध तक एक विश्व में अनिवार्य है।

और जो अनिवार्य है उसके लिए
 खिन्न या परितप्त होना व्यय है।
 तू नहीं मडगा, न मडगा, प्राग यह
 फूटती निरक्षय किसी भी व्याज से।

पाण्डवों के मिथु होने से कभी
 रुक न सकता था सहज बिस्फोट यह।
 ध्वंस से सिर मारने को थे तुम
 यह-उपग्रह शून्य धारों धार के।

धम का है एक और रहस्य भी,
 धम छिपाऊँ क्यों मविष्यत् से उसे ?
 दो दिनों तक मैं मरण के मास पर
 हूँ खड़ा पर आ रहा हूँ विश्व से।

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा दामा
 व्यक्त की शोभा बिनय भी, त्याग भा,
 किन्तु, उल्लास प्रदम जब समुदाय का
 भूसना पड़ता हमें तप-त्याग को।

जो प्रसिद्ध कल्याणमय है व्यक्ति तेरे प्राण में,
 कौरवों के नाश पर है रो रहा केवस बही।
 किन्तु, उसके पास ही समुदायगत जो भाव है,
 पूछ उनसे क्या महाभारत नहीं प्रतिपाद्य था ?

हारकर घन-धाम पाण्डव मिथु बन जब चस दिये,
 पूछ तब कसा सगा यह कृत्य उस समुदाय को
 जो घनय का था विरोधी पाण्डवों का मित्र था।

घोर जब तूने उत्सर्ग कर व्यक्ति के सदम में
 क्लीव-सा देका किया सज्जा-हरण मित्र नारि का
 (द्रौपदी के साथ ही सज्जा हरी थी था रही
 उस बड़े समुदाय को जो पाण्डवों के साथ था)
 घोर तूने कुछ नहीं उपचार था उस दिन किया,
 सो बताना क्या पुण्य था ? या पुण्यमय था क्रोध वह,
 जस उठा था भाव-सा जो साधनों में भीम के ?

कायरों-सी बात कर मुझको जसा मत भाव तक
 है रहा धारण मेरा बीरता बनिदान ही
 जाति मन्दिर में जमाकर शूरता को धारती,
 था रहा हूँ विश्व से नद मुँह के ही यान पर।

स्याम तप मिला ? बहुत हूँ जानता मैं भी, ममर,
 स्याम, तप मिला बिरागी पौरियों के धर्म है
 याकि उसकी नीति जिसके हाथ में शायक नहीं,
 या मृषा पाण्डव यह उस कापुरुष्य बसहीन का
 जो सदा भयभीत रहता मुँह से यह सोचकर
 ग्लानिमय जीवन बहुत मच्छा, मरण मच्छा नहीं।

त्याग, तप, कृष्णा, क्षमा से भीग कर,
 व्यक्ति का मन तो बसी होता, मगर,
 हिंस्र पशु जब घेर सेते हैं उसे,
 काम घाता है वसिष्ठ शरीर ही।

और तू कहता मनोबस है बिसे,
 शस्त्र हो सकता नहीं वह देह का,
 क्षेत्र उसका वह मनोमय भूमि है,
 नर वहाँ सड़ता ज्वसन्त बिकार से।

कौन केवल आत्मबल से झूठ कर
 पीत सकता देह का संग्राम है?
 पाशविकता लड़ग जब सेती उठा,
 आत्मबल का एक बस बसता नहीं।

जो निरामय शक्ति है तप, त्याग में,
 व्यक्ति का ही मन उसे है मानता
 योगियों की शक्ति से संसार में
 हारता सेकिल नहीं समुदाय है।

कामन में देख अस्मि-मुञ्ज मुनिपुत्रों का
 दैत्य बध का या किया प्रण जब राम ने,
 "मतिभ्रष्ट मानवों के शोष का उपाय एक
 शस्त्र ही है?" पूछा या कीमसमना बाम ने।
 "नहीं प्रिये, सुधर मनुष्य सकता है तप,
 त्याग से भी" उत्तर दिया या धनश्यामने,
 "तप का परन्तु, बस बसता नहीं सर्वत्र
 पतित समूह की फुवृतिया के सामने।"

तृतीय सग

समर निष्ठ है धर्मराज पर,
 कही शान्ति बहु क्या है,
 जो मनीषि पर स्थित होकर भी
 बनी हुई सरमा है ?

सुख समृद्धि का विपुल कोष
 सचित कर कस, बल, छल से,
 किसी दुषित का प्राप्त छोन,
 पन भूट किसी निर्बल से।

सब समेट, प्रहरी बिठला कर
 बहरी कुछ मत बोलो
 शान्ति सुभा बहु रही न इसमें
 गरल क्रान्ति का बोलो।

हिलो - हुनो मत हृदय रक्त
 मपना मुझको पीने दो,
 मचम रहे साम्राज्य शान्ति का,
 जिया और पीने दो।

सप है सत्ता सिमट सिमट
 निमके हाथों में पायी,
 शान्तिभक्त वे साधु पुरुष
 क्यों चाहें कभी सदाई ?

सुख का सम्यक्-रूप बिनापन
 जहाँ नीति से, नम से
 संभव नहीं, भ्रष्टान्ति यही हो
 जहाँ खड्ग के मय से,

जहाँ वासते हों धनीति-पद्धति
 को सत्ताधारी,
 जहाँ सूत्रधर हों समाज के
 धम्मायी, धविधारी,

नीतिपुक्त प्रस्ताव धर्मिके
 जहाँ स भादर पायें,
 जहाँ सत्य कहनेवालों के
 सीध उतारे जायें,

जहाँ खड्ग-वस एकमात्र
 भाधार वसे शासन का,
 दबे श्रेय से भ्रमक रहा हो
 हृदय जहाँ जन-जन का

सहते-सहते धनय जहाँ
 मर रहा मनुज का मन हो,
 समस्त कापुरुष धनने को
 बिक्रार रहा जन-जन हो,

भहंकार के साथ भूषा का
 जहाँ वन्द हो धारी,
 ऊपर धान्ति, तलाठस में
 हो छिटक रही धिनगारी,

अथवा अकस्मात् मिट्टी से क्यासा ?
या मत्रों के फूटी थी यह करसा ?
की यह सिखा जन्मी

कुरुक्षेत्र के पूर्ब नहीं क्या
प्रतिहिंसा समर लगा था बसने ?
का बीच भयानक हृदय - हृदय में बसने ?

शान्ति सोमकर खडग क्रान्ति का करती है
जब वर्जन तभी जान सो, किसी समर का
वह सर्जन करती है।

शान्ति नहीं तबतक, जबतक
सुख-माग न मर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।

ऐसी शान्ति राज्य करती है
तन पर नहीं, हृदय पर,
मर के ठोके विदवाओं पर,
धर्या, भक्ति, प्रणय पर।

न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है,
जबतक न्याय न पाता
जैसा भी हो, महल शान्ति का
सुदुर्ग नहीं रह पाता।

आगामी बिस्फोट काम के
मुख पर दमक रहा हो,
इमित में पङ्कार बिबस
मारों के दमक रहा हो,

पङ्कार भी संकेत सजग हों
किन्तु, न सत्ताबारी,
दुर्मति और धमस में दें
आहुतियाँ बारी बारी,

कभी नये घोषण से, कभी
उपेक्षा कभी दमन से
अपमानों से कभी कभी
दर बेचक ब्याय-बचन से।

दबे हुए आवेग वहाँ यदि
उबस किसी दिन फूटें,
संयम छोड़ कास बन मानव
अन्यायी पर टूटें,

कहो कौन बामी होगा
उस दारुण अमरुहण का
अहंकार या पूजा ? कौन
बोधी होगा उस रण का ?

तुम विपण्य हो समझ
हुमा अमवाह तुम्हारे कर से।
सोचो तो, क्या अग्नि अमर की
बरसी बी अम्बर से ?

अथवा अकस्मात् मिट्टी से
या मर्तों के फूटी थी यह
थी यह से बननी क्याता
चिन्ता कराता ?

कुरुक्षेत्र के पूर्ब नहीं क्या
प्रतिहिंसा का समर लगा था बसने ?
हृदय - हृदय मयानक में बसने ?

शान्ति बोलकर लडप शान्ति का
जब बर्जन करती है,
तमी जान सो, किसी समर का
बह सर्जन करती है।

शान्ति नहीं तबतक, जबतक
सुख - माप न मर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम हो।

ऐसी शान्ति राज्य करती है
तन पर नहीं हृदय पर,
नर के ऊंचे विश्वासों पर,
अज्ञा मक्ति, प्रणय पर।

न्याय शान्ति का प्रथम न्यास है,
जबतक न्याय न आता,
वैसा भी हो, महम शान्ति का
सुदुर्ग नहीं रह पाता।

प्रागामी विस्फोट काम के
मुच पर बमक रहा ही,
इमित में प्रकाश बिबश
भावों के बमक रहा हो,

पढ़कर भी संकेत सभग हों
किन्तु न सत्ताभारी,
दुर्मति और मनम में है
आहुतियाँ बारी बारी,

कमी नये घोषण से कमी
उपेक्षा, कमी समत से
अपमानों से कमी कमी
खर बेबक व्यंग्य वचन से।

दबे हुए भावों वहाँ यदि
उबस किसी दिन फूटें,
संयम छोड़ काम बन मानव
अन्धारी पर टूटें,

कहो कौन दामी होमा
उस वाक्य जगद्गुरु का
अहंकार या बुना ? कौन
दोषी होगा उस रण का ?

तुम विपण्य हो समझ
हुमा जगद्गुरु तुम्हारे कर से।
सोचो तो, क्या अग्नि समर की
बरसी थी अम्बर से ?

अपना अकस्मात् मिट्टी से
कूटी थी यह क्यासा ?
या मंत्रों के बस से बननी
थी यह धिक्का करासा ?

कृष्ण के पूर्व नहीं क्या
समर सगा था बसने ?
प्रतिहिंसा का दीप भयानक
हृदय - हृदय में बसने ?

शान्ति खोसकर लब्ध शान्ति का
जब बजन करती है
तभी जान सो, किसी समर का
बह सजन करती है।

शान्ति नहीं तबतक, जबतक
सुल-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो
नहीं किसी को कम हो।

ऐसी शान्ति राग्य करती है
तन पर नहीं हृदय पर,
नर के ऊँचे बिस्वासों पर,
यदा भक्ति, प्रणय पर।

न्याय शान्ति का प्रथम न्याय है,
जबतक न्याय न थाता,
जैसा भी हो, महल शान्ति का
मुद्क नहीं रह पाता।

कृपित्त क्षान्ति सशंक पाप
 धरने से ही करती है,
 सद्ग छोड़ विश्वास किसी का
 कभी नहीं करती है।

और जिन्हें इस क्षान्ति-व्यवस्था
 में सुख भोग सुखम है
 उनके लिए क्षान्ति ही जीवन
 सार सिद्धि दुर्लभ है।

पर, जिनकी प्रस्थियाँ बजाकर,
 क्षोभित पीकर तन का
 बीती है यह क्षान्ति राह
 समझे कुछ उनके मन का।

स्वत्व माँगने से न मिले
 सघात पाप हो पायें
 मोक्षो धमराज क्षोभित से
 जियें या कि मिट जायें ?

न्यायोचित अधिकार माँगने
 से न मिलें तो सड़ के,
 तेजस्वी छीनते समर को
 पीत, या कि खुद भरके।

किसने कहा पाप है समुचित
 स्वत्व प्राप्ति हित सद्गमा ?
 उठा न्याय का सद्ग समर में
 अभय मारना मरना ?

क्षमा दया, तप तेज मनीबस
धर्मराज, धर्मित करते बुधा
मानव की तुम
कुहाई, कदराई ।

हिंसा का आघात तपस्या ने
देवों का दल कहाँ सहा है ?
से सदा दानकों हारता रहा है ।

मनचकित प्यारी थी तुमको
सोम क्रिया क्यों भरत राज्य का ?
यदि पौरुष स्वप्न से,
फिर भाये क्यों बन से ?

पिया भीम ने बिप, साक्षात्गृह
केशकपिता प्रिया समा-सम्भुत
जसा, हुए बनवासी,
कहसायी दासी ।

क्षमा दया, तप त्याग मनोबस
सबका सिया सहाय,
पर नर-भ्याघ सुयोधन तुमसे
कहाँ कहाँ कब हाथ ?

क्षमाधीन हो रिपु-समक्ष
दुष्ट तुम हुए विनत बितना ही,
कौरवों ने तुमको
कायर समझ उतना ही ।

मर्यादा सहन करने का
कृष्ण यही होता है,
पौरव का घातक मनुष्य
कोमल होकर बोला है ।

क्षमा सोभती उस मुजंय को,
जिसके पास मरस हो ।
उसको क्या, जो रस्ताहीन,
विपरहित, विनीत, सरस हो ?

तीन दिवस तक पन्थ मानते
रघुपति सिन्धु किनारे,
बैठे पकड़े रहे छन्द
मनुज के प्यारे प्यारे ।

उत्तर में धन एक नाद भी
उठा नहीं सागर से,
सखी मधीर धयक पौरव की
भाग राम के घर से ।

सिन्धु बेह पर 'नाहि नाहि'
करता भा गिरा चरण में,
चरण पूज, दासता ग्रहण की,
बैधा मूक शयन में ।

सच पूछो, तो घर में ही
बसती है वीरि विजय की,
सन्धि-वचन सपूज्य उसीका
जिसमें शक्ति विजय की ।

सहनशीलता, क्षमा, दया का
 तभी पूबता जय है
 बस का दप समकता उसके
 पीछे जब जगमग है।

जहाँ नहीं सामग्य दोष को
 क्षमा वहाँ निष्कल है।
 गरस-धूँट पी जाने का
 मिस है, बापी का छत है।

फसक क्षमा का छोड़ छिपाते
 जो अपनी कायरता,
 वे क्या जानें ज्वलित-प्राण
 नर की पौरुष-निभरता ?

वे क्या जानें नर में वह क्या
 सहनशील मनस है,
 जो सगठे ही स्पर्श हृदय से
 सिर तक उठता बस है ?

जिनकी भुजाओं की धिराएँ फड़कीं ही नहीं,
 जिनके लहू में नहीं बेग है मनस का
 शिव का पराधक ही पेय त्रिनका है रूहा,
 बसता ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का,
 जिनके हृदय में कभी धाग सुसगो ही नहीं,
 ठेस सगठ ही धहकार महा छसका।
 जिनको सहाय नहीं भुज के प्रथाप का है,
 बैठे भरोसा किय वे ही आत्मबस का।

उसकी सहिष्णुता क्षमा का है महत्त्व ही क्या
 करना ही घाता नहीं जिसको प्रहार है ?
 कदम्बा क्षमा को छोड़ घोर क्या उपाय उसे
 से न सकता जो बरियों से प्रतिकार है ?
 सहता प्रहार कोई विवश, कदम पीव
 जिसकी नसों में नहीं पोख्य की धार है,
 कदम्बा क्षमा है बसीब जाति के कसक घोर
 क्षमता क्षमा की शूर-वीरों का सिंगार है ।

प्रतिशोध से है होती शीर्ष की शिखारें खीप्त
 प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है ।
 छोड़ प्रतिवेर पीते मूक अपमान से ही
 जिनमें न शोध शूरता का वह्नि-ताप है ।
 चोट ला सहिष्णु व रहेगा किस भाँति तीर
 जिसके निपङ्गु में करों में दृढ़ धाप है ?
 वेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा है, किन्तु
 हारी हुई जीत की सहिष्णुता-अभिशाप है ।

सटता कहीं भी एक तुल्य जो शरीर से तो
 उठता करुण हो कर्णश फुफकार है
 सुनता गजेन्द्र को विचार जा वनों में कहीं
 भरता गुहा में ही मुगेन्द्र हृहकार है
 दूध चुमते हैं छते भाग हैं जमातो मू को
 मानन को लगे गजमान पाठवार है,
 जग में प्रदीप्त है इमी का तेज प्रतिशोध
 जड़ बेनर्मी का जन्मसिद्ध अधिकार है ।

सेना साज हीम है परस्व हरने की वृत्ति,
 लोभ की सबाई क्षात्र धर्म के विरुद्ध है।
 वासना-विषय से महीं पुष्य उद्भूत होता,
 बामिज के हाथ की कृपाज ही प्रशुद्ध है।
 शोट सा परन्तु, जब सिंह उठता है पाग,
 उठता कराल प्रतिशोष ही प्रबुद्ध है,
 पुष्य क्षिप्तता है चन्द्रहास की विभा में तब,
 पीष्य की जामृति कहाती धर्म-मुद्ध है।

धर्म है हुताशन का प्रथक चठे सुरत्त,
 कोई क्यों प्रबुद्ध-वेग वायु की बुसाता है ?
 फूटगे कराल कण्ठ बवालामुक्षियों के ध्रुव,
 धानम पर बंठ विदव धूम क्यों मचाता है ?
 फूंक से जलायेया प्रबुद्ध जगती को ब्याल,
 कोई क्यों शरौष मार उसको बगाता है ?
 विद्युत् सगोस से प्रपश्य ही गिरेगी, कोई
 शीप्त धमिमान को क्यों ठोकर सगाता है ?

युद्ध को बुसाता है धनीति-ध्वजधारी या कि
 वह जो धनीति-भास प दे पाव बसता ?
 वह जो दबा है शोषणों के भीम शम से या
 वह जो सडा है मग्न हंसता-मचसता ?
 वह जो बना के शक्ति-भ्रूह सुस सूटता या
 वह जो प्रशान्त हो सुधानस से जलता ?
 धीन है बुसाता युद्ध ? नाम जो बनाता ?
 या जो जास तोड़ने को कृद कास-सा निबसता ?

पातकी न होता है प्रबुद्ध दमितों का बहप,
 पातकी बसाना उसे दर्शन की भ्रान्ति
 सोपण की श्रुतसा के हेतु बनती जो शान्ति
 युद्ध है यथाथ में जो भीषण अशांति
 सहसा उसे हो मौन हार मनुजत्व की है
 ईश की अजगा घोर पीड़प की शान्ति
 पातक मनुष्य का है मरण मनुष्यता का
 ऐसी श्रुतसा में धम विप्लव है कान्ति

मूल रहे हो धमराज तुम,
 धमी हिस मूलम है
 सड़ा चतुर्दिक अहंकार है
 सड़ा चतुर्दिक छत है।

मैं भी हूँ सोचता अथत से
 कैसे उठे जिपाया
 किस प्रकार फीसे पृथ्वी पर
 कठघा प्रम, पहिवा।

जिये मनुज किस भांति परस्पर
 हो कर भाई - भाई,
 कैसे बके प्रदाह कोष का
 कैसे स्के सड़ाई।

पृथ्वी हो साम्राज्य स्नेह का
 जीवन स्निग्ध सरस हो,
 मनुज प्रकृति से विदा सदा को
 दाहक द्वेष - गरम हो।

बहे प्रेम की धार, मनुज को
एक बूझरे के उर में नर
बह धनवरत मिगोये,
बीज प्रेम के बोये।

किन्तु, हाय, घाघे पय तक ही
पहुँच सका यह जग है,
धमी धान्ति का स्वप्न दूर
नम में करता जगमग है।

भूसे-मटके ही पृथ्वी पर
किसी युधिष्ठिर के प्राणों में
वह धादरी उतरता,
ही स्वल्प है धरता।

किन्तु, द्वेष के सिसा-दुर्ग से
बार-बार टकरा के
बद मनुज के मनोदेश के
सौह द्वार का पा के,

पूणा, कसह, विद्वेष, बिबिध
तापों से धाकुल हा कर,
हो जाता उद्बोन एक-दो
का ही हृदय मिगो कर।

क्योंकि युधिष्ठिर एक, सुपाषन
धमिगित धमी यहाँ है
बड़े धान्ति की सदा हाय
के पोषक द्रव्य कहीं है?

शान्ति-बीन तब तक धजती है
नहीं सुनिश्चित सुर में,
स्वर की शृङ्ख प्रतिध्वनि जब तक
चुंटे नहीं उर-उर में।

महम बाह्य उपकरण, भार बन
जो धावे ऊपर से,
आत्मा की यह ज्योति फूटती
सदा विमल अन्तर से।

शान्ति नाम उस बचिर सरभि का
जिस प्रम पहचाने
अज्ञ भीत तन ही न
मनुज का मन भी जिसको माने।

शिवा-शान्ति की मूर्ति नहीं
धनती कुसाम के पृष्ठ में
सदा जग्म लती वह नर के
मनःप्रान्त निस्पृह में।

परम-दोह-विस्फोट-हेतु का
करके सफल निवारण,
मनुज प्रकृति ही करती शीतल
स्व शान्ति का धारण।

जब होती अवतीर्ण शान्ति यह
मम न सेप रह जाता
गंका तिमिर-ग्रस्त फिर कोई
नहीं देता रह जाता।

छान्ति ! मुदीतम छान्ति ! कहीं
वह समता देनेवासी ?
देखो, प्राय विपमता की ही
वह करती रखवासी ।

मानन सरस, बचन मधुमय है,
तन पर शुभ्र बसन है,
बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का
विष से भर राशन है ।

यह रखती परिपूर्ण नूपों से
जरासन्ध की काण,
सोपित कर्मा, बनी पीठी है
तप्त मधु की घाण ।

दुःखोत्र में जसी चिता जिसकी,
वह छान्ति नहीं थी,
धर्म की पन्था बड़ बोसी,
वह दुष्प्रान्ति नहीं थी ।

पी परस्व-प्रासिनी भूर्जपिनि
वह जो जली समर में,
पसहनशील शोय या, जो
बस उठा पाप के घर में ।

नहीं हुआ स्वीकार छान्ति को
जोना जब कुछ देकर,
टूटा पुण्य कास-सा उस पर
प्राण हाथ में लेकर ।

पापी कौन ? मनुज से उसका
न्याय पुराने
याकि न्याय सोजसे विष्णु का
सीस उढ़ाने

बासा ?

बासा ?

चतुर्थ सर्ग

ब्रह्मचर्य के व्रतों धर्म के
महास्तम्भ, बस के प्रागार,
परम विरागी पुरुष जिन्हें
पाकर भी पा न सका ससार ।

किया विसर्जित मुकुट धर्म हित
और स्नह के कारण प्राप्त,
पुरुष विक्रमी कौन दूसरा
हुष्याब्धगत में भीष्म-समान ?

घरों की मोंक पर सेटे हुए गजराज-जैसे
धके, टूटे गदड़-से झस्त पन्नगराज-जैसे,
मरणपरवीर-जीवनका धगम बस नारनासे
बबाये कास को सायास संज्ञा को संमान,

पितामह कह रहे कीन्तेय से रण की कथा है,
विकारों की मन्डी में गूँघटे जाते ध्यमा हैं ।
हृदय-सागर मणित होकर कभी जब बोलता है,
छिपी निज वेदना गंभीर नर भी बोलता है ।

“बुराता म्याय जो, रण को बुसाता भी वही है,
पुषिष्ठिर ! स्वत्व की धन्वेपणा पाठक नहीं है ।
नरक उनके लिए, जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु जो रण में उसे झसकारते हैं ।

“सहज ही चाहता कोई नहीं मड़ना किसी से
 किसी को मारना धपवा स्वयं मरना किसी से,
 नहीं दुःखान्ति को भी तोड़ना नर चाहता है,
 जहाँ तक हो सके निज सान्ति प्रेम निबाहता है।

“मगर, यह सान्तिप्रियता रोकती केवल मनुज को,
 नहीं वह रोक पाती है दुराचारी दमुज को।
 दमुज क्या सिष्ट मानव को कभी पहचानता है?
 बिनय को नीति कायर की सवा वह मानता है।

‘समय ज्यों बीतता, त्यो-त्यो धपस्वा घोर होती,
 मनन की गृहसा बढ़कर कराल, कठोर होती।
 किसी दिन तब, महाविस्फोट काई फूटता है,
 मनुज से जान हाथों में दमुज पर टूटता है।

“न समझो किन्तु, इस बिम्बस के होते प्रभेता
 समर के अप्रणी वो ही, पराभित घोर भेता।
 नहीं जलता निखिल ससार वो की प्राग से है
 अवस्थित ज्यों न जय वो चारही के भाग से है।

‘युधिष्ठिर ! क्या हुताशन-खील सहसा फूटता है ?
 कभी क्या वज्र निर्धन म्योम से भी छूटता है ?
 मनसगिरि फूटता, जब ताप होता है भवनि में,
 बढ़कती दामिनी बिकराल घुमाकृत गपन में।

“महाभारत नहीं या दण्ड केवल वो बरों का,
 मनन का पुंज या इसमें भरा भवगित नरों का।
 न केवल यह वृष्ण कुदंबा के संघर्ष का या
 बिकट विस्फोट यह सम्पूर्ण भारतवर्ष का या।

“युगों से विश्व में विष-वायु बहती आ रही थी
परित्री मौन हो दावाग्नि सहती आ रही थी,
परस्पर बैर-घोषन के लिए तैयार वे सब,
समर का लोभते कोई बड़ा आभार वे सब।

“कहीं या जस रहा कोई किसी की धूरता से।
कहीं या क्षोभ में कोई किसी की क्रूरता से।
कहीं उत्कर्ष ही नृप का नृपों को सासता था।
कहीं प्रतिशोध का कोई भुजगम पासता था।

“निभाना पार्य - बस का चाहता राधेय या प्रथ।
द्रुपद या चाहता गुरु द्रोण से निज बैर घोषन।
सकृति को चाह थी, कसे बुकाये ऋष्य पिता का,
मिमा वे घूम में किस भाँति कुरु-कुल की पताका।

“सुयोधन पर न उसका प्रेम था, बह धोर छल था।
हित बन कर उसे रक्षना अभिमत केवल धमस था।
जहाँ भी भाग थी जसी, सुसगती जा रही थी,
समर में फूट पड़ने के लिए धकुमा रही थी।

“सुभारों से स्वयं भगवान के जो-जो बिड़े थे,
नृपति वे क्रुद्ध होकर एक इस में जा मिले थे।
नहीं विभुपास क बस से मिटा था मान उनका
दुबक कर आ रहा धूर्धुरा द्विगुण धमिमान उनका

“परस्पर की कतह से, बैर से, होकर विभाजित
कभी से दो दलों में हो रहे थे लोग सज्जित
लड़े थे वे हृदय में प्रज्वलित धंगार से
धनुज्याँ की बढ़ाकर म्यान में तसबार सेक

"या रह गया हसाहस का यदि
 कोई रूप धरूरा,
 किया युधिष्ठिर, उसे तुम्हारे
 राजसूय ने पूरा।

"इच्छा नर की घोर, घोर फल
 देती उसे नियति है,
 फलता बिप पीयूष-बुध में
 प्रलय प्रकृति की गति है।

'तुम्हें बना सम्राट् देश का
 राजसूय के द्वार,
 केशव ने था ऐक्य सृजन का
 उचित उपाय विचार।

'सो, परिणाम घोर कुछ निकला,
 मड़की भाग मयन में,
 द्वेष अंकुरित हुआ पराजित
 राजाओं के मन में।

समस्त न पाये वे केशव के
 सद्बुद्देय निरक्षण को।
 देखा मात्र लन्हनि बढ़ते
 इन्द्रप्रस्थ के बल को।

'पूजनीय को पूज्य मानने
 में जो बाधा कम है,
 वही मनुज का अहंकार है,
 वही मनुज का भ्रम है।

“इन्द्रप्रस्थ का मुकुट-छत्र
भारत भर का भूषण था,
उसे ममन करने में सगता
कित्से, कौन भूषण था ?

“तो नी गसानि हुई बहुतों का
इस भक्तक ममन से,
प्रमित वृद्धि ने की इसकी
समता प्रमिमान दसन से।

“इस पूजन में पड़ी दिव्यायी
उन्हें विवदाता भपनी,
पर के विभव, प्रताप, समुन्नति
में परवदाता भपनी।

“राजसूय का यज्ञ लगा
उनको रण के क्रीदास-सा,
निज विस्तार चाहने-वासे
चतुर भूप के उस सा।

धर्मराज ! कोई न चाहता
घहंकार निज सोमा,
किसी उच्च सत्ता के सम्मुख
सम्मान से नत होमा।

“समी तुम्हारे ध्वज के नीचे
भाये ये न प्रणय से
कुछ भाये ये भक्ति-भाव से
कुछ नृपाय के भय से।

“ममर, भाव जो भी हों सबके
एक बात ही मन में ।
रह सकता प्रसुप्त मुकुट का
मान न इस यन्दन में ।

‘सगा उन्हें सिर पर सबके
दासत्व बढ़ा जाता है,
राजसूय में से कोई
साध्याज्य बढ़ा जाता है ।

‘किया यज्ञ ने मान विमदित्त
धगधित भूपार्श्वों का,
धमित दिग्गर्भों का शूरों का
बस-वैभव वामों का ।

‘सब है, सत्कृत क्रिया धतिधि
भूर्पा को तुमने मन से,
अनुमय, विभय, क्षीम, समता से
सज्जस, मिष्ट वचन से ।

‘पर, स्वतन्त्रता-मणि का इनसे
मोल न चुक सकता है,
मन में सतत रहकने वाला
भाव न एक सकता है ।

“कोई मन्द, मूढ़मति मूष ही
होता तुष्ट वचन से,
विजयी की शिष्टता-विनय से
परि के धार्मिकन से ।

“चतुर भूप तनसे मिस करते
घमित घनु के मय को,
किन्तु, नहीं पडने देते
घरि-कर में कभी हृदय को।

“हुए न प्रघमित भूप
प्रमय-उपहार यज्ञ में देकर,
सौटे इन्द्रमस्य से वे
कुछ भाव घौर ही लेकर।

“धरराज, है याद व्यास का
बहु गंभीर वचन क्या ?
शुवि का बहु यज्ञान्त-कास का
विकट भविष्य-कथन क्या ?

“जूटा जा रहा कुटिस प्रहों का
दुष्ट योग अम्बर में,
स्यात्, अगत् पडनेवासा है
किसी महासगर में।

“तेरह बय रहेगी जग में
शान्ति किसी बिष छाई।
तब होगा बिस्फोट, छिड़ेगी
कोई कठिन सदाई।

“होगा ध्वंस कराम, कास
बिप्सव का खेल रहेगा,
प्रसय प्रकट होगा धरणी पर,
हा-हा-कार मचेगा।

"यह था बचन सिद्ध द्रष्टा का,
 नहीं निरी घटकस थी,
 व्यास जानते थे वसुधा
 आ रही किधर पल-पल थी ।

सब ये सुखी पक्ष से कवल
 मुनि का हृदय विकल था,
 वही जानते थे कि कृण्ड से
 निकला कील पलस था ।

' मरी समा क बीज उन्होंने
 सजग किया था सबको,
 पग-पग पर संयम का शुभ
 उपदेश दिया था सबको ।

"किन्तु, महम्मय राग-भीष्ट नर
 कब संयम करता है ?
 कन धानेवासी निपति से
 प्राज कहीं उरता है ?

' बीत न पाया वर्ष, कास का
 गजन पडा सुनाई,
 इन्द्रप्रस्य पर धुमड़ विपद की
 बटा घटकित छाई ।

बिन्से शात था, धूल-धेस में
 यह विनाश छायेगा ?
 भारत का दुर्भाग्य धूत पर
 बड़ा हुभा धायेगा ?

“कौन जानता था कि सुयोधन
की पति यों छूटेगी ?
राजसूय के हवन-कण्ड से
बिन्दु बह्नि फूटेगी ?

“तो नी है सब धर्मराज !
यह ज्वाला मयी नहीं थी,
दुर्योधन के मन में वह
वर्षों से बोल रही थी।

“बिधा बिन्दु-सग रंग भूमि में
जिस दिन अर्जुन-धर से,
उसी दिवस अन्तर्गमि दुर्योधन
के अन्तर से।

“बनी हस्ताहस वही बंध का,
सपटें लाल-भवन की,
धूत-कपट शकुनी का, बन
यातना पाण्डु-गन्धन की।

“भरी समा में साज डीपदी
की न गयी थी कूटी,
बहु तो यही कराल आग
थी निर्णय होकर फूटी।

“ज्यों-ज्यों छाडी बिबध डीपदी
की लिखती जाती थी,
र्यों-र्यों बहु धावत,
दुर्योधन यह नग हुई जाती थी।

"उसके कपित केश-बास में
केश सुने थे इसके,
पूबीभूत बसन उसका था,
बेश सुने थे इसके ।

"दुरवस्था में बेर सडा था
उसे तपोबन उसका
एक दीप्त धामोक बन गया
था पीराम्बल उसका ।

"पर, दुर्योधन की दुरन्ति
लंगी हो नाच रही थी,
बपनी निर्मञ्जता, शेष का
पीरय बाँच रही थी ।

"किन्तु, न जाने, क्यों उस दिन
तुम हारे, मैं भी हाए,
धामें, क्यों फूटी न भुजा को
फेड रक्त की धाए ।

"भर की कीर्ति-म्वजा उस दिन
कट गयी देश में जड़ से,
नारी ने सुर को टेरा
जिस दिन निरास हो नर से ।

"महाधमर धारम्भ देश में
होना था उस दिन ही,
उठा लड्ग यह पकु रधिर से
धोना था उस दिन ही ।

“निर्दोषा, कुसवधू, एकवस्त्रा
को शीघ्र महस से,
दासी बना समा में सार्ये
दुष्ट घूट के छस से।

“धीर सभी के सम्मुख
सज्जा-वसन प्रमय हो लोसों,
बुद्धि-विपण्ण वीर भारत के
किन्तु, नहीं कुछ बोसों।

“समझ सकेगा कौन धर्म की
यह नव रीति निरासी ?
बूकेगी हम पर प्रबल
सन्ततियाँ धानेवासी।

“उस बिन की स्मृति से छाती
धब भी बसने सगती है,
भीतर कहीं छूरी कोई
हृत् पर बसने सगती है।

“पिक्थिक मुझे, हुई उत्पीड़ित
सम्मुख राब-वधूटी,
पासों के धाने प्रबसा की
साज लसों ने घूटी।

“धीर रहा जीवित मैं, धरणी
फटी न विगज बोसा,
गिरा न कोई बल न धम्बर
गरज प्रेष में बोसा।

"जिया प्रज्वलित बंभारे-धा
 में धाजीबम जप में,
 शरिर नहीं था, प्राग पिपस कर
 बहती थी रग रग में।

"यह जप कभी किसी का प्रमुषित
 वर्ष न छह सकता था
 कहीं वेस धन्याय किसी का
 मौन न रह सकता था।

"सो, कसक बहु सगा, नहीं
 घुस सकता जो घोने से,
 भीतर ही भीतर जसने
 या कण्ठ फाड़ रोने से।

"धपने वीर-चरित पर तो मैं
 प्रकल मिथि जाता हूँ।
 धर्मराज ! पर, तुम्हें एक
 उपदेश विये जाता हूँ।

"शूरधर्म है धमय बहुकते
 धंगारों पर जसना,
 दूरधर्म है क्षान्ति अग्नि पर
 धर कर चरण मधसना।

"शूरधर्म कहते हैं छाती टाग
 तीर खाने का,
 दूरधर्म कहते हैं कर
 हासाहम पी जाने को।

“भाग हमेशी पर सुमगा कर
सिर का हविष् बढ़ाना,
धूरधर्म है जग को धनुषम
बलि का पाठ पढ़ाना ।

“सबसे बड़ा धर्म है नर का
सदा प्रज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्वयं भी
महीं किसी का सहना ।

“बुद्धि का दीप भीरवर
शालि मूढ जलते हैं,
उल्लस वेदिका पर बढ़ जाते
घोर स्वयं जलते हैं ।

“बात पूछने को बिवेक से
जमी भीरता जाती,
पी जाती अपमान पतित हो,
अपना सेव गंवाती ।

‘छप है, बुद्धि-कसपा में जल है,
शीतल सुधा तरल है,
पर, झूमो मत, कुसुमद में
हो जाता बही-गरल है ।

“छटा नहीं मानापमान की
बुद्धि उचित सुधि सेती,
करती बहुत बिचार, धनि की
चिन्ता - बुद्ध है बेती ।

“उसने ही वी बुद्ध सुन्दारे
वीरुप की धिनयापी,
बसो न पास देखकर सिचतो
द्रुपव सुता की साड़ी।

‘दाँध उसी ने मुझे डिषा से
बना दिया कायर था,
जगू-जगू जब तक, तक तक तो
निकम चुका सबसर था।

“योवन बसता सदा गर्ब से
सिर ताने घर खिचि,
सुबने सपता किन्तु सीमबस
बय बिबेक के नीचे।

“योवन के उच्छस प्रबाह को
बेज मौन, मन मारे
सहमी हुई बुद्धि रहती है
निदबस छोड़ी किनारे।

“उरती है, बहु बाय नहीं
तिनके सी इस घात में
प्लावन भीत स्वयं छिपती
फिरसी प्रपनो नारा में।

हिम निमुक्त निविपन, तपस्या
पर जिसता योवन है,
मयी दीप्ति नूतन सौरभ से
रहता मरा नुबन है।

“किन्तु बुद्धि नित स्वही ताक में
 रहती पाठ सगाय
 कब जीवन का ग्वार दिपिम हा
 कब वह उसे दबाये।

“और सरय ही, जमी दधिर का
 वेग तनिक कम हाता
 मुस्ताने को कहीं ठहर
 आता जीवन का सोठा।

“बुद्धि फेंकती तुरत जास निज
 मानव फेंस आता है
 मयी-नया उमभर्ने लिये
 जीवन सम्मुख आता है।

“क्षमा या कि प्रतिकार जगत में
 क्या कृतव्य मनुज का ?
 मरण या कि उच्छेद ? उचित
 उपचार कौन है इज का ?

“बस-बिबेक में कौन धेळ है
 अस्ति टरेप्य या धनुनय ?
 पूजनीय दधिराकृत विजय
 या करुणा-पीत पराजय ?

“दो में कौन पुनोत शिला है ?
 आरमा की या मन की ?
 शक्ति-श्रेज बय की मति गिब
 या गति उच्छ्रम जीवन की ?

जीवन की है श्रान्ति बोर, हम
जिसको बय कहते हैं
बके सिंह धारण हुँवते
भ्यग्य बाण सहते हैं।

'बय हो बुद्धि-मधीम चक्र पर
विवश भ्रमना जाता
भ्रम को रोक समय को उत्तर
तुरत नहीं दे पाता।

तब तब तेज सूर्य पौरुष का
काम चल जाता है,
बय जड़ मानव श्रान्ति-मान हो
रोता पछताता है।

बय का फल भागता रहा मैं
बडा सुयोधन पर में,
रही वीरता पकी तड़पती
बन्धन घटिष्य पंजर में।

'न तो बोरवों का हित साधा
घोर न पाण्डव का ही,
इन्द्र वीच उपमा कर रवाया
बय ने मुझे सदा ही।

'धर्म स्नेह दोनों प्यारे थे
बडा कठिन निर्णय था,
घत- एक को देह तुमरे—
ना दे दिया सुदय था।

“किन्तु, फटी जम भटा, ज्योति
जीवन की पकी दिखायी,
सहसा संकट-बीज स्नेह की
घार उमड़कर छापी ।

“धर्म पराजित हुआ, स्नेह का
डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे, दान था
जिसको मिला हृदय का ।

“भीषम न गिरा पार्य के घर से,
गिरा भीषम का धर था,
बम का तिमिर भेद वह भेरा
यौवन हुआ उदय था ।

“हृदय प्रेम को बढ़ा, कम को
सुखा समपित करके,
में धाया था कुरुक्षेत्र में
तोप हृदय में मरसे ।

“समझ था, मिट गया इन्द्र
पाकर यह न्याय-विभाजन,
जात न था है कहीं कम से
कठिन स्नेह का बंधन ।

“दिखा धर्म की भीति कम
मुझसे सेवा सेता था
करने को बसि पूर्ण स्नेह
मीरब इंगित देता था ।

“धर्मराज संकट में कुमिल
पटल उपर पाता है
मानव का सच्चा स्वरूप
मुसकर बाहर पाता है ।

“धमाधाम क्यों बड़ा बमकने
पूँचसी मगी कहानी
उठी स्नेह-बन्दन करने को
मेरी वधी बबामी ।

‘फटा बुद्धि भ्रम हटा कर्म का
मिथ्या बाल नयन से
प्रेम बधीर पुकार उठा
मेरे दरीर से मन से—

‘सा धपना सबस्व पार्य ।
यह मुझको मार गिराओ
भव है बिरह असह्य मुझे
तुम स्नेह धाम पहुँचाओ ।’

“ब्रह्मचर्य के प्रण क दिन जो
रुद्ध हुई थी धारा
बुरुदोन में फूट उसी ने
बनकर प्रेम पुकारा ।

‘बही न डोमल बायु कुंज
मन का पा कमी न डोमा
पत्तों की गुरमूट में छिप कर
बिहग न कोई धोसा

“बड़ा किसी विम फूल, किसी का
मान न मैं कर पाया,
एक बार भी अपने का पा
दाम न मैं कर पाया ।

“वह प्रतृप्ति थी छिपी हृदय के
किसी निमृत्त कोने में,
जा बैठा था धौल बषा
जीवन पुपड़े दोने में ।

“वही भाव घादघ बेदि पर
बड़ा फुस्त हो रण में,
बाम रहा है वही भधुर
पीटा बनकर वष-व्रण में ।

“मैं था सदा सचेत, नियन्त्रण
बन्ध प्राण पर बाँधे,
कोमलता की घोर घरासन
छाम निघाना छाँधे ।

“पर, न जानता था, भीतर
कोई माया बसती है
भाव-गत के गहन वित्तम में
शिष्या छम्न जसती है ।

“बीर सुयोधन का सेनापति
बन मड़ने भाया था,
कुक्षत्र में नहीं स्नेह पर
मैं भरने भाया था ।

“सच है, पार्व घनुप पर मेरी
मक्ति बहुत गहरी थी,
सच है, उसे देख उठती
मन में प्रमोद-सहरी थी ।

“सच है, या बाह्या पाण्डवों
का हित मैं सम्मन से,
पर दुर्योधन के हाथों मैं
बिका हुआ था तन से ।

“न्याय-भ्रूह को मेर स्नेह ने
उठा लिया निज धन है
सिद्ध हुआ मन जिसे मिला,
संपत्ति उसी की तन है ।

“प्रकटी होती मधुर प्रेम की
मुक्त पर कहीं अमरता
स्वात देश को कुरुक्षेत्र का
दिन न देखना पड़ता ।

“धमराज अपने कोमल
भावों की कर धवहेसा ।
मगता है धन भी जग को
रण की ओर डकेसा ।

‘जीवन के पथनाम प्रहृ में
बर फठार वत धारण,
सदा स्निग्ध भावों का यह जग
करता रहा निवारण ।

"न या मुझे बिष्दास, कम से
स्नह थोष्ठ मुन्दर है
कोमलता की सी व्रत के
घासोकी से बड़कर है ।

"कर में चाप, पीठ पर तरकस,
नीति - ज्ञान या मन में,
इन्हें छोड़ मैंने देखा
कृष्ण भीर नहीं जीवन में ।

"वही कभी अन्तर में कोई
नाथ अपरिचित जागे
मुकुता पड़ा समूह बरवस
मय - नीति - ज्ञान के जागे ।

"सवा सुयोधन के हृत्पों से
मेरा क्षुब्ध हृदय था
पर, क्या करता, यही सबसे थी
नीति प्रबसतम मय था ।

"अनुशासन का स्वल्प सौंप कर
स्वयं नीति के कर में
पराधीन सेवक बन बैठा
मैं अपने ही घर में

"बुद्धि शासिका थी जीवन की,
अनुसर मात्र हृदय था,
मुग्ध कुछ सुनकर कहने में
सगता उसको मय था ।

'कह न सका वह कभी मीध्व !
तुम कहीं वहे जाते हो ?
न्याय दण्ड धर होकर मी
धन्याय सह जाते हो ।

'प्यार पाण्डवों पर मन से,
कौरव की सजा तन से,
सभ पायेगा कौन काम
इस बिखरी हुई सगन से ?

'बड़ता तुम बँर भीषण
पाण्डव से कुर्योधन का
मुझमें बिम्बित तुम वन्द
बनकर शरीर से मन का ।

'किन्तु, बुद्धि ने मुझे भ्रमित कर
दिया नहीं कुछ करने,
स्वत्व छीन भयने हार्थों का
हृदय बेदि पर धरने ।

'कभी विज्ञाती रही बँर के
स्वय - समन का धपना,
कहती रही कभी जग में
है कौन - पराया धपना ।

'कभी कहा तुम बड़े भीरवा
बहुतों की छूटेगी
होगा विप्लव धर व्यवस्था
की सरणी छूटेगी ।

“बन्धी बीरता का उमार
रोका प्ररथ्य जाने से,
बंभित रखा बिविध विद्य मुम्भको
इच्छित फल पाने से ।

“प्राज सोचता हूँ उसका यदि
कहा न माना होता
स्नेह-सिद्ध गुपि रूप ग्याय का
यदि पहचाना होता ।

“घो पाता यदि राजनीति का
बसुय स्नेह के जस से
इच्छनीति को कहीं मिला
पाता करुणा निमग्न से ।

सिख पायी सता क उर पर
बोम नहीं जो गाया
बिशिख - सरानी से सिखने में
उसे कहीं उठ पाता

“कर पाता यदि मुक्त हृदय को
मस्तक के पासन से,
उतर पकड़ता बाह दलित की
मंत्री के पासन से,

“राज-द्रोह की ध्वजा उठाकर
कहीं प्रचारा होता
न्याय - पक्ष मकर दुर्योधन
को ससकारा होता,

“स्वात् सुयोधन नीत उठाया
पग कुछ अधिक संभल के
भरतभूमि पड़ती न स्वात्
संगर में आने चल के ।

पर, सब कुछ हो चुका नहीं कुछ
घाय बचा जाने दो
भूलो बीठी घात मये
युग की जम में घाने दो ।

“मुझे शान्ति यात्रा स पहले
मिले सभी फल मुझको
सुखम हो गये घम स्नेह
दोनों के सबस मुझको ।”

पंचम सर्ग

१

घारदे ! बिकस सक्रान्ति काल का नर मैं,
कसिकास भाम पर बड़ा हुआ ट्रापर मैं
सतप्त विषय के लिए लोजते छाया
भाषा में या इतिहास-सोक तक भाया ।

पर हाय यहाँ भी घषक रहा प्रम्बर है,
उठ रही पवन में वाहक, सोल सहर है
कोसाहल - सा भा रहा कास - गह्वर से,
तांडव का रोर कराल सुग्घ सागर से ।

सघर्ष - नाद वन - दहन - दाह का मारी,
बिस्फोट बह्लि गिरि का जबसन्त भयकारी ।
इन पन्नों से भा रहा बिल यह क्या है ?
जस रहा कौन ? किसका यह बिकट घुमा है ?

मयमीत भूमि के उर में बुनी घलाका,
उड़ रही सास यह किसकी बिजय-पताका ?
है माच रहा वह कौन घ्वस-घसि घारे,
घषिराक्त-गाठ, जिह्वा सेसिहा पसार ?

यह सगा दौड़ने प्रदव कि मद मानव का ?
हो रहा यज्ञ या घ्वस अकारण भय का ?
घट म जिसको कर रहा खद्ग सचित है,
बह सखारि है या नर का सोणित है ?

मच्छसी नृपा की जिन्हें विवश हो होती,
यज्ञोपहार है या कि मान के माता ?
कुष्ठों में यह पूत - बलिष्ठ हृष्य बसता है ?
या महंकार मपहृत नृप का बसता है ?

ऋत्विक् पढ़ते हैं वेद कि ऋचा दहन की ?
प्रशाम्त करते या व्यनित पशु ब्राह्मण की ?
है कविषा भूम प्रतिमान जयी के यज्ञ का ?
या भृशुमाता है क्रोध महीप विवश का ?

यह स्वस्ति - पाठ है या नव प्रथम प्रदाहन ?
यज्ञान्त-स्नान है या कि दधिर मवगाहन ?
सन्नाद् - भास पर पकी सास जो टीका,
बन्धन है या साहित्य प्रतिशोष किसी का ?

बस रही छद्म के साथ कसम भी कवि की
सिलती प्रशास्त्र सन्नाद, हुताशन, पवि की ।
जय पाव किये सोटा विद्येय समर से,
छारद ! एक इतिका तुम्हारे घर से—

दोड़ी नीराजन - पास सिये निज कर में,
पढ़ती स्वागत क एसाक मनोरम स्वर में ।
पारती सुजा फिर समी नाचने-माने,
सहार - देवता पर प्रसून छितरने ।

यजन से पाछ छरीर रक्त-मन धोकर,
यवक्य रूप से बहुविध रूप संजो कर,
उदिको संवार कर बिठा सिया प्राणों म
कर दिया शीघ्र बहु अमर उसे गार्गों में ।

हो गया क्षार, जो द्वेष समर में हारा ।
 जो भीठ गया, वह पूज्य हुआ प्रगार ।
 सब है, जय से जब रूप बदल सकता है
 यय का कर्मक मस्तक से टल सकता है—

तयकाल ग्लानि के साथ विजय को छोले
 दृग-ध्वज मूँदकर प्रपमा हृदय टटोले ?
 मोचे कि एक नर की हत्या यदि प्रथ है,
 तब बघ धनक का कैसे कृत्य प्रमथ है ?

रण-रहित काल में वह किसस डरता है ?
 हो प्रमथ क्यों न जिस-तिस का बघ करता है ?
 जाना क्यों सीमा भूल समर में धाकर ?
 मर-वध करता अभिकार कहीं से पाकर ?

इस काल-गम में किन्तु, एक नर जाना
 है लड़ा कहीं पर भरे दुमों में पानी
 रक्तान्त रूप को परों-तले दबाय,
 मन में कक्ष्या का स्निग्ध प्रदीप जसाये ।

सामने प्रतीक्षा-निरत जयथी बासा
 सहमी-सकृची है छड़ी सिय करमाला ।
 पर, धर्मराज कुछ जान नहीं पाते हैं
 इस रूपसि को पहचान मही पाते हैं ।

कीन्तेय भूमि पर सबे मात्र हैं तन स,
 हैं भड़े हुए प्रपरूप साक में मन स ।
 वह साक जहाँ बिद्वेष विषम जाता है
 कदम कठोर कासायस गल जाता है

मर जहाँ राग से होकर रहित विपरता,
मानव मानव से नहीं परस्पर उरता
विश्वास शान्ति का निमग्न राज्य जहाँ है,
भावना स्वाय की कर्तुपिठ त्याज्य जहाँ है।

जन-जन के मन पर कदवा का वासन है।
प्रकृत्य स्नेह का, नय का प्रसूयासन है।
है जहाँ शक्ति से भ्रष्ट प्रभु निज पीना,
साम्राज्य छोड़ कर भीख माँगते पीना।

वह शोक, जहाँ शक्ति का ताप नहीं है,
मर के तिर पर रण का अभिघात नहीं है।
जीवन समता की छाँह तसे पसता है,
पर-पर पीयूष प्रदीप जहाँ जलता है।

प्रतिविजय ! शक्ति से विसम्भ वसन है तेरा,
यम शब्दा से क्या भिन्न वचन है तेरा ?
सपनों की म्यानर मसक रही प्रबल में,
है सुषी ध्वंस का मरा कृष्ण कुम्भ में।

धो कुम्भोत्त की सब प्राणिनी व्यासी,
मुख पर से तो स पोंछ शक्ति की मामी।
तू जिस वरम करने के हेतु विकस है,
बहु काज रहा कुछ धीर सुषामय पस है।

बहु देस जहाँ, ऊपर धनमत्त धम्बर में
जा रहा दूर उड़ता बहु किसी सहर में,
माने जगती क मिए सुषा की शक्ति,
समता प्रवाहिनी, सुभ स्नेह-जस मरिता।

सञ्छान्ति जोगी इसी स्वप्न के क्रम से,
 होगा जब कभी विमुक्त इसी विम यम से।
 परिठाप दीप्त होगा विजयी के मन में,
 उमड़ेंगे जब करुणा के मेघ नयन में,

जिस दिन बस को बस समझ जमी रोयेगा,
 घाँसू से तन का खिच-पक धोयेगा,
 होगा पय उस दिन मुक्त मनुज की जय का,
 धारम्भ भीत परणी के मायोदय का।

महारसुते! मदमत्त जयथी बासे!
 है कहीं पास तू किसके बरमाना से?
 हो चुका बिदा उसवार उठानेवाला,
 यह है कोई साम्राज्य सूटानेवाला।

रक्तजस्त देह से इसको पा न सकेगी,
 योगी का मद-गर धार जगा न सकेगी।
 हागा न धर्मी इनके कर में कर तरा,
 यह तपोभूमि पाछे सूटा भर तेरा।

सौटेगा जब तक यह प्राकटा-प्रकासी,
 घायगा तब निबेद-भूमि सन्वासी,
 मद-जनित रग तेरे न टहर पायेंगे,
 तब तक माला के फूल सूख जायेंगे।

२

बुद्धि बिलपते उर का पाहे जितना कर प्रबोध,
 सहज नहीं छोड़ता प्रकृति सना घपना प्रतिघोष।

धूप हो जाये भरो मनुज का हृदय मुक्ति स हार,
रुक सकता पर नहीं बेदना का निर्मम ध्यापार।

सम्मुख जो कुछ बिछा हुआ है निजन ध्वस्त विषण्ण,
मुक्ति करेगी उसे कहीं एक धाँसों से प्रच्छन्न ?

बनती रही पितामह मुख से कथा यज्ञस्र, प्रमेय,
मुनत हा मुनते धाँसू में फूट पड़े कोन्तेय।

"हाँ सब कुछ हा चुका पितामह रहा नहीं कुछ नेप
घाप एक धाँसो के धागे है यह मृत्यु प्रदेश—

"जहाँ भयंकर भीमकाय सब-सा निस्त्रय प्रदान-त
शिथिल-ध्यास्त हो नेट गया है स्वयं काम विक्रान्त।

"दक्षिण निरस्त प्रथम में नर के लब्धित सिये घरीर
मृतकसला विषण्ण पड़ी है घरा मीन गम्भीर।

सबटो हुई विपाकत गन्ध से दम पुटता-सा जान,
दबा मासिका निकस भागता है द्रुतगति पबमान।

"शीत-सूर्य यज्ञसन्न दासता सहम-सहम नर ताप
जाटा है मूँह छिपा धनों में चार बसा धूपधाय।

"बायस गूढ भ्रुगास, इबान दल के दम वन-माज्जर,
यम क धर्तिय विषरते मुख स देत विपुस धाहार।

"मनु का पुत्र बने पशु मोहन ! मानव का यह धस्त !
मरत धमि के मर-धीरों की यह दगति हा हस्त !

"तम के ब्रौनों धोर झूलठ ये जो गुण्ड विद्यास,
कमी प्रिया का कठहार वन कमी गन्नु का कास—

"मरुद-श्व के पुष्ट पल-निम दुवमनीय महाम,
धमय नाचत घात्र उन्हीं को बन क जम्बुक खान ।

"जिस मस्तक को बधु मार कर वायस रहे विदार,
उन्नति-बोध जगत का घाघह स्यात् स्वप्न नाण्डार ।

"नोव-नाब ला रहा गुद जो वक्ष किसी का धोर
किमो मुकविका म्यात्, हृदय वा स्नेह सिक्त गम्भीर ।

"केवल गणना ही नर को कर गमान कम विष्वस
सूट से गया है वह कितन ही धमम्य भवतस ।

"नर वरम्य निर्मोक, धूरठा के ज्वलन्ठ धागार,
कमा ज्ञान, विज्ञान धम क मूर्तिमान घाघार—

"रण को भेंट बड़ सब, हुतरला वमु-धरा दीन
कुक्षत्र से निकसी है हाकर भठोव धीहांन ।

"विभव तेज सौन्दर्य, गये सब दुर्पोषन क माप
एक गुप्क ककास मगा है मुक पापा क हाप ।

"एक गुप्क ककास मूर्ताके स्मृति-ग्यान का घाप,
एक गुप्क ककाम, ओबितों क मन का संताप ।

"एक गुप्क ककाम मुधिष्ठिर की जय की पहचान
एक गुप्क ककास महाभारत का प्रभुपम दान ।

“घरती वह, जिसपर कराहुता ? भायस संसार,
वह आकास, मरा है जिसमें कठना का भीतार।

“महादेश वह जहाँ सिद्धि की शेष बची है पूत,
जसकर जिसके द्वार हो यये हैं समुद्रि के फूस।

“यह उच्छिष्ट प्रसय का, अहि-वंगित मुसुर्वु यह देश,
मेरे हित भी के गृह में बरवान मही पा शेष।

“सब दूर सुयोधन-साय गये
मृतकों से मरा यह देश बचा है,
मृतवत्सला माँ की पुकार बची
युवती-विषबायी का शेष बचा है,
सुख शान्ति गयी रस राग गया
कठना दुस्त-दीन्य अक्षेय बचा है,
बिबधी के लिए यह भाग्य के हाथ में
क्षार समुद्रि का शेष बचा है।

“रग शान्त हुआ, पर हाय, सभी भी
घरा अवसन्न बरी हुई है,
मर-भारियों के मुस्त-देश पे नाश की
छाया-सी एक पड़ी हुई है,
बरती नम दोनों विषम उदासी
गभीर दिशा में भरो हुई है,
कुछ जान नहीं पड़ता, बरणी यह
बीबित है कि मरो हुई है।

"यह धोर मसान पितामह ! देखिये,
 प्रेत समृद्धि के बा रहे वे,
 अप-माता पिन्हा कुरराज को पेर
 प्रगल्भ के गीत सुना रहे वे,
 मुरदों के कटे-फटे गात को इमित
 से मुम्हको दिसता रहे वे,
 सुनिये यह ब्यंग्य-निनाद हँसी का,
 ठठा मुम्हको ही बिड़ा रहे वे।

"कहते हैं, 'युधिष्ठिर, बातें बड़ी-बड़ी
 साधुता की तू किया करता था,
 उपदेश समी को सदा तप, त्याग,
 क्षमा, करुणा का दिया करता था,
 अपना पुत्र माग पराये के दुख से
 बौध के बाँट मिया करता था,
 धन-धाम गँवा कर धर्म के हेतु
 बनों में जा बास किया करता था।

"बह या सब या उसका छम-युग
 बिराग, न प्राप्त जिसे बल था,
 धन में करुणा को अपा निज कृत्य से
 जो निज जोड़ रहा दस था ?
 यो सहिष्णुता या मुम्हमें प्रतिमोष का
 क्षयक गुप्त रहा पस था ?
 बह धन या या कि कदयता को
 हँकने के निमित्त मृपा छम था ?

"जब का मन हाथ में धारा जभी,
 नर नायक पक्ष में धाने सगे,
 करुणा तब जाने सयी तुम्हको,
 प्रतिकार के भाव सताने लये,
 तप-त्याग-विभूषण फेंक के पाण्डव
 सत्य स्वरूप दिखाने लये,
 मँडराने विनाश सगा नम में,
 धन युद्ध के धा पहराने लगे ।

"अपने दुख घोर सुयोधन के सुख
 क्या न सदा तुम्हको सजते थे ?
 कुरुराज का देख प्रताप बसा सध
 प्राण क्या तेरे नहीं जलते थे ?
 तप से ठेक किन्तु, दुराग्नि को पाण्डव
 सामु बन जग को छमते थे
 मन में थी प्रचण्ड विद्या प्रतिशोध की'
 बाहर वे कर को मसते थे ।

"जब युद्ध में फूट पड़ी यह भाग तो
 कौन-सा पाप नहीं किया तू ने ?
 गुरु के वध के हित झूठ कहा,
 सिर काट समाधि में ही मिया तू ने',
 छल से कुरुराज को पाप को छोड़
 गया रण घम धमा दिया तू ने
 धरे पापी मुमुर्षु ममुष्य के वध को
 धीर सहास सहू पिया तू ने ।

1. सात्यकि ने समाधिस्थ सुयोधन का मस्तक काट लिया था ।

भयकर्म किये जिसके हित धंक्र में
 धाज उसे भरता नहीं क्यों है ?
 ठुकरासा है भीत को क्यों पद से ?
 भय द्रौपदी से भरता नहीं क्यों है ?
 कुरुराज की मोगी हुई इस सिद्धि को
 हृपित हो भरता नहीं क्यों है ?
 कुक्षेत्र विजेता, बठा, निज पाँव
 सिद्धासन पे धरता नहीं क्यों है ?

"भय बाधा कहीं ? निज भाल पे पाण्डव
 राजकिरीट धरें सुख से ,
 डर छोड़ सुयोधन का जग में
 सिर ऊँचा किये विहरे सुख से ,
 बितना सुख चाहें मिसेगा उन्हें,
 धन-धान्य से धाम भरें सुख से ,
 भय धीर कहीं जो विरोध करे ?
 बिधबाधों पे राज्य करें सुख से ।

"सच ही तो पितामह , धीर-धनु
 वसुधा बिधबा बन रो रही है ,
 कर-कंकण को कर चूर समाट से
 चिह्न सुहाग का धो रही है ,
 यह देखिये भीत की जोर धनीति,
 प्रमत्त पिशाचिनी हो रही है ।
 इस दुःखिता के संग ब्याह का साज
 समीप बिठा के संबो रही है ।

"इस रोटी हुई विधवा को उठा
 जिसके पति की न पिता है दुम्मी,
 निज धक में कैसे बिठाऊंगा मैं ?
 धन में अनुरक्ति दिखा प्रवर्षिष्ट
 सबने का कसक सया लो सगा,
 सब और इसे न बढ़ाऊंगा मैं ।

"धन ही परिचय है युद्ध का अन्तिम,
 बनबास में जो अपने में छिपी मैं,
 इस बासना को पहचानता मैं,
 हीपदी की लो बाठ बना ? कृष्ण का भी मैं,
 उपदेश नहीं टुक मानता मैं,
 फिर से बहता है पितामह, तो मैं,
 यह युद्ध कभी नहीं ठामता मैं ।

पर हाय, धी मोहमयी रजनी यह
 भ्रम की धी कुहा तम तोम मरी
 धन लोभ उमारता था मुझको, न था
 सबसे था प्रचण्ड जो सत्य पितामह
 हाय, वही मुझे ज्ञात न

'जब सत्य जसा, मुझमें न भगा
 यह भाव कि मैं कहीं जा रहा हूँ,
 किस तत्व का मूल्य चुकाने को वेद्य के
 साथ जो पास बुला रहा हूँ,
 कुछ-कोय है या कुछ द्वीपद्वी का,
 जिससे रम-प्रेरणा पा रहा हूँ,
 अपमान को घोने जसा अपवा
 सुख भोगने को समजा रहा हूँ।

"अपमान का दोष मूपा मिस था,
 सच में, हम चाहते थे सुख पाना,
 फिर एक सुदिग्ध समापुह को
 रखा कुराव के भी को जलाना
 निज सोमुपता का सदा नर चाहता
 दप की ज्योति के बीच छिपाना,
 सड़ता वह लोभ से, किन्तु, किया
 करता प्रतिदोष का झूठ बहाना।

"प्रतिकार या ध्येय तो पूर्ण हुआ,
 जब चाहिए क्या परितोष हमें ?
 कुछ-पक्ष के तीन रथी जो बचे,
 उनके हित शय न रोप हमें,
 यह माना प्रचारित हो धरि से
 सबने में नहीं कुछ दोष हमें,
 पर, क्या अप-दीक्ष न देगा दुबो
 कुछ का यह र्मब-कोप हमें ?

"सब सोय रहेंगे, युधिष्ठिर वम से
 सायुसा का व्रतघाती हुआ ,
 अपकर्म में भीन हुआ जब श्लेष
 उसे तप-रथाय का भारी हुआ
 नरमेघ में प्रस्तुत तुच्छ मूर्तों के
 निमित्त महा अधिकारी हुआ ।
 कदम्बा व्रत पावन में घसमर्ष हो
 रौरव का अधिकारी हुआ ।

"कुछ के अपमान के साथ पित्तमह,
 विद्व-विगाथक युद्ध को तोलिये,
 इनमें से विभातक पातक कौन
 बड़ा है ? रहस्य विचार के लालिये,
 मुक्त वीर, विपन्न को देख, ब्यार्ह हो
 देव । नहीं मिय सरय से बोलिये,
 नर-नाश का दायी वा कौन ? सुयोधन
 याकि युधिष्ठिर का दस ? बोलिये ।

"हठ व दृढ़ देख सुयोधन को
 मुझको व्रत से द्रिग जाना वा क्या ?
 बिय की जिस कीच में वा वह मग्न,
 मुझे उसमें मिर जाना वा क्या ?
 वह लद्ग मिये वा सड़ा, इससे
 मुझको भी वृषाण उठाना वा क्या ?
 द्रोपदी के परामर्ष का बदला
 कर देश का मास बुकाना वा क्या ?

"मिट जाये समस्त महोत्तम, क्योंकि
 किसी ने किया अपमान किसी का,
 जगतो जब जाय कि छूट रहा है
 किसी पर दाहक बाण किसी का,
 सबके अभिमान उठें बस, क्योंकि
 सगा बसने अभिमान किसी का,
 मर हो बलि के पशु दौड़ पड़े
 कि उठा बब युद्ध-विपाण किसी का।

"कहिंये मत दीप्ति इसे बस की,
 यह दारुद है, रण का पवर है,
 यह दानवता की शिक्षा है मनुष्य में,
 राग को भाग भयकर है,
 यह बुद्धि प्रमाद है, भ्रान्ति में सत्य को
 देख नहीं सकता मर है,
 कुर्बान में भाग लगी तो उसे
 दिखता जलता अपना घर है।

"दुनिया तज देती न क्यों उनको
 सड़ने सगत जब दो अभिमानी ?
 मिटने दे उन्हें जग घापस में
 जिन सोर्गों में है मिटने की ही ठानी
 कुछ सोचे - विचारें बिना रण में
 निज रक्त बहा सकता मर दानी,
 पर, हाथ लटस्य हो डाल नहीं
 सकता यह युद्ध की भाग में पानी।

"कुरुक्षेत्र का युद्ध समाप्त हुआ, हम
 सात हैं, कौरव तीन बचे हैं,
 सब भोग मरे, कुछ पंगु, वृषी,
 विकर्णांग, बिबर्ण, निहीन बचे हैं,
 कुछ भी न किसी को मिना सब ही
 कुछ लोकर, हो कुछ दीन बचे हैं,
 बस, एक हैं पाण्डव जो कुरुवंश का
 राज-सिंहासन छीन बचे हैं।

"यह राज-सिंहासन ही बड़ था
 इस युद्ध की मैं भय जानता हूँ,
 द्रौपदी-रूप में वी जो सोम की नापिनी,
 भाव उसे पहचानता हूँ
 मन के दुःख की शुभ ज्योति हरी
 इस सोम ने ही, यह मानता हूँ,
 यह बीठा रहा तो बिबेठा कहाँ मैं ?
 यभी रथ दूसरा ठानता हूँ।

"यह होगा महारज राज के साथ,
 मुचिष्ठिर हो बिजयी निकसेगा
 मर-संस्कृति की रणछिन्न सत्ता पर
 शान्ति सुषा-फल दिव्य फलेगा,
 कुरुक्षेत्र की धूल नहीं इति पन्थ की
 मानव ऊपर और बसेगा,
 मनु का यह पुत्र निराध नहीं,
 नव धम प्रदीप अक्षय्य जसेगा।"

षष्ठ सर्ग

धर्म का दीपक, दया का क्षीप
 कब जसेगा, कब जसेगा, विश्व में भगवान ?
 कब सुकोमल ज्योति से प्रमिसिक्त
 हो, सरस होंगे जसो-सूखी रसा के प्राण ?

है बहुत बरसी घरित्री पर प्रमूढ की धार,
 पर नहीं धव तक सुशीतल हो सका संसार ।
 भाग-सिप्सा धाव भी सहरा रही उद्दाम,
 बह रही असहाय नर की भावना निष्काम ।

भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर या कि हों भगवान,
 बुद्ध हों कि अशोक, पाँधी हों कि ईसु महान,
 सिर झुका सबको, सभी को खेळ निज से मान,
 मात्र वाचिक ही उन्हें बैठा हुआ सम्मान,
 दण्ड कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह,
 जा रहा मानव जसा धव भी पुरानी राह ।

अपहरण घोषण वही कुत्सित वही अभियान,
 साजना अड़ दूसरों के भस्म पर उत्थान,
 घोर से सुमन्त्र न सकना भावसी व्यवहार,
 शौड़ना रह रह उठा उन्माद की तलवार ।
 प्रोह से धव भी वही अनुराग,
 प्राण में धव भी वही फुंकार भरता नाग ।

पूर्व युग-सा भ्राज का जीवन नहीं साधार,
 सा चुका है दूर बापर से बहुत संसार,
 यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण, समर्थ
 ब्रह्म गये हैं गूढ़ संघृति के अमित गुह्य अर्थ ।
 चीरता तम को सैमासे बुद्धि की पतवार,
 भा गया है ज्योति की नव भूमि में संसार ।

भ्राज की दुनिया विचित्र नहीं,
 प्रकृति पर सबत्र है विजयी पुरुष प्राचीन ।
 हैं बड़े नर के करों में वारि विद्युत्, भाप,
 हुक्म पर बढ़ता-उतरता है पवन का ताप ।
 हैं नहीं बाकी कही व्यक्तवान
 मौख सकता नर सरित्, गिरि सिन्धु एक समान ।

सीस पर आवेश कर अन्नधार्य
 प्रकृति के सब तत्व करते हैं नमूज के कार्य ।
 मागतो है हुक्म मानव का महा बह्मणेश,
 घोर करता अस्वगुण अन्धर महान संविष ।

नम्य नर की मुष्टि में विकराम
 है सिमटते या रहे प्रत्येक क्षण दिक्काम ।

यह प्रमति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व बिकास !
 चरण तम भूगोल ! मुट्ठी में निहित आकाश !

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
 छूट कर पीछे गया है यह हृदय का रेश,
 नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
 प्राण में करते दुर्घा हो देवता भीतकार ।

चाहिए उनको न केवल ज्ञान
 देवता है मांगत कुछ स्नेह, कुछ बसिदान,
 माम-सी कोई मुलायम बीज
 ताप पाकर जा उठे मन में पसोज पसोज,
 प्राण के सुससे बिपिन में फूल कुछ सुकुमार,
 ज्ञान के मरु में मुकुमल नावना की धार,
 शीतल की रागिनी, कुछ मोर का मुसकान,
 रंग में पुलता हुआ खिलती कमा का राज,
 पत्तियों पर गुंजती कुछ घोस की आबाज,
 मौसुमों में दर की पसती हुई तस्वार
 फूल की रस में बसो भीगी हुई जंजीर।

भूम, कोसाहम, पकाबट पूल क उस पार,
 पात जय से पूर्व कोई मन्दगामी धार
 ब्रह्म के नीचे जहाँ मन का मिले बियाम
 आदमी काटे जहाँ कुछ छुट्टियाँ कुछ घाम
 कर्म-सकल सोक-जीवन स समय कुछ छी
 हो जहाँ पर बठनर कुछ पल स्वय में सीन

फूल सा एकाम्त में उर खाने के
 नाम को दिन को कमाई तोसने के

से बूकी सुख भाग समुचित से धपिक है
 देवता है मांगते मन के लिए समु

हाय रे मानव नियति के दाम !
 हाय रे मनुपुत्र, अपना धाप ही उपहास !

प्रकृति को प्रशन्नता को जीत,
 सिन्धु से आकाश तक सबको किये मगभीत
 सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय,
 चौरसा परमाणु को सत्ता प्रसीम, प्रजेय,
 बुद्धि के परमान में उड़ता हुआ प्रसहाय
 आ रहा तू किस दिशा की प्रार को निरुपाय ?
 मत्स्य क्या ? उहस्य क्या ? क्या प्रर्ष ?
 यह नहीं यदि ज्ञात, तो विज्ञान का भ्रम व्यर्थ ।

सुन रहा आकाश चढ़ प्रह-तारकों का नाव
 एक छोटी बात ही पड़ती न तुम्हको याद ।

एक छोटी, एक सीधी बात
 विश्व में छापी हुई है वासना की छत ।

वासना की यामिनी, जिसके तिमिर से हार,
 हो रहा नर भ्रान्त मनना आप ही आहार
 बुद्धि में नभ की सुरभि तन में अधिर की कीच,
 यह पचन सं देवता पर, कर्म से पशु नीच ।

यह मनुष्य,

जिसका गगन में जा रहा है याग
 बापटे जिसके करों को देख कर परमाणु ।
 शोल कर मनना हृदय गिरि, सिन्धु, भू आकाश
 है सुना जिसको बुके निज मुहूर्तम इतिहास ।
 घुम घुमे परदे, रहा घब क्या यहाँ जज्ञय ?
 किन्तु नर को बाहिए नित बिघ्न कुछ दुर्जेय,
 सोचने को घोर करने को गया संघर्ष,
 नभ्य भय का सत्र पाने को गया उत्कर्ष ।

पर बरा सपरीक्षिता, बिस्मिष्ट स्वाद-बिहीन,
 यह पकी पोषी न दे सकती प्रदेग नवीन ।
 एक नुबु हस्तामसक यह भूमिमंडल गोल,
 मानबों में पढ़ सिये सब पृष्ठ जिसके सोल ।

किन्तु, मर प्रज्ञा सवा गतिशास्त्रिणी, उद्दाम
 नै नहीं सकती कहीं एक एक पस बिधाम ।
 यह परीक्षित भूमि, यह पोषी पठित, प्राचीन
 सोचने को दे उसे अब बात कौम नवीन ?
 यह नपुंसक भूमिमण्डल, व्योम यह सकीर्ण,
 बाहिए नर को नया कुछ धीर जग बिस्तीर्ण ।

भुट रही नर-बुद्धि की है साँस
 चाहती यह कुछ बड़ा जग कुछ बड़ा धाकास ।
 यह मनुज, जिसके लिए सधु हो रहा भूगोल,
 अपर-ग्रह-जय की तृपा जिसमें उठी है बोल ।
 यह मनुज विज्ञान में निष्प्रात,
 जो करेगा, स्यात्, मंगल धीर बिधु से बात ।

यह मनुज ब्रह्माण्ड का सबसे सुरम्य प्रकाश,
 कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या धाकास ।
 यह मनुज, जिसकी शिक्षा उद्दाम
 कर रहे जिसको बराबर भक्तियुक्त प्रणाम ।
 यह मनुज जो सृष्टि का शृंगार
 ज्ञान का, विज्ञान का धासोक का धागार ।

पर, सको सुन तो सुनो मंमम-जगत के लोग ।
 तुम्हें छूने को रहा जो जीव कर उद्योग,
 बहु धमी पशु है निरा पशु हिंस्र रक्त पिपासु
 बुद्धि उसकी शानवी है स्पृस की जिज्ञासु ।
 कबकता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
 फूँकने लगते सभी हो मत मृत्यु विपाण ।

यह मनुज ज्ञानी शृगामों कुबकुरों से हीन
 हो किया करता धनेकों कूर कर्म मलीन ।
 वह ही सड़ती नहीं है पूम्हो मन-प्राण,
 साम होते ध्वंस में इसके कसा विज्ञान ।
 इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूम,
 बय्य होकर घूटते धुम धम धपमा भूम ।

यह मनुज, जो ज्ञान का प्रामार ।
 यह मनुज, जो सृष्टि का शृगार ।
 नाम सुन भूलो नहीं सोचो-विचारो कृत्य
 यह मनुज संहार-सेवी वासना का भुत्स्य ।
 उप इसकी कल्पना पापण्ड इसका जान
 यह मनुष्य मनुष्यता का घोरतम धपमान ।

‘अधोम से पाताम तक सब कुछ इसे है श्रय ।
 पर, न यह परिधय मनुज का, यह न उसका श्रय ।
 श्रय उसका बुद्धि पर धैतय जर की शीत
 श्रेय मानव की धसीमित मानवों से प्रीत
 एक नर से दूसरे क बोध का व्यवधान
 तोड़ दे जो है वही ज्ञानी वही विद्वान
 घोर मानव भी वही ।

ओ पीव बुद्धि - धरीर

ठाढ़ना प्रणु ही न इस म्यबधान का प्राचीर
बहु नहीं मानव मनुज से उच्च, सधु या मिन
चित्र-प्राणी है किसी अज्ञात प्रह का छिन्न।
स्यात् ममस या शनिद्वर लोक का प्रबदान
भजनवी करता सदा अपने प्रहों का ध्यान।

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि मह आग्नेय,
विश्व-वाहक मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप,
आन्त पद पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अविद्याप।

अमित प्रज्ञा का कुतुक यह इन्द्रजाल विचित्र
श्रेय मानव के न आविष्कार ये अपवित्र।

सावधान मनुष्य ! यदि विज्ञान है तसवार,
तो इसे बे फेंक, तब कर मोह स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध है तू विद्यु अभी नादान
फूल-काँटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।
जब सजता तू नहीं से हाथ में तलवार,
काट लेगा भग लीची है बड़ी यह बार।

रसवती भू के मनुज का श्रेय
यह नहीं विज्ञान कष्ट आग्नेय।
श्रेय उसका प्राण में बहती प्रणय की वायु
मानवों के हेतु अपित मानवों की आयु।

श्रेय उसका बीसुधों की धार,
 श्रेय उसका मग्न वीणा की मधुर पुकार।
 दिव्य भावों के प्रगट् में वागरम का मान,
 मानवों का श्रेय धारमा का किरण-प्रभियान।

यजन धर्पण प्रात्मसुख का त्याग
 श्रेय मानव का तपस्या की दहकती प्राण।
 बुद्धि-मन्यम से विभिन्न श्रेय वह नबनीत,
 जो करे नरके हुएव को स्निग्ध सौम्य पुनीत।
 श्रेय वह विज्ञान का वरदान
 हो सुसम सबको सहज जिसका शक्ति प्रदान।
 श्रेय वह नर-बुद्धि का शिबक्य प्राविष्कार,
 जो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का मार।
 मनुष्य के धर्म के धर्मभय की प्रया रकभाव,
 सुख-समृद्धि-विधान में नरके प्रकृति सुक भाव।

धर्म होया मनुष्य का समता विधायक मान,
 स्नेह-सिद्धि-तप्याय पर नव विश्व का निर्माण।
 एक नर में धर्म का निश्चक, दृढ़ विश्वास,
 धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास—
 समर, शोषण ह्रास की विस्दावमी से हीन
 पृष्ठ जिसका एक भी होया न दग्ध मभीन।
 मनुष्य का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
 उमकटा होगा सभी नर का यहाँ सतोष।

युद्ध की श्वर-भीति से हो मुक्त,
 जब कि होगी, सरय ही, बसुधा सुधा से मुक्त ।
 भेय होगा सुष्टु-विकसित मनुज का वह काम,
 जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से श्रांत ।
 भेय होगा धर्म का घासोक वह निर्दग्ध,
 भगवत धोड़ेया मनुज से जब उचित सम्बन्ध ।

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
 जब खिसेगी, कब खिसेगी बिन्दु में भगवान ?
 कब सुकोमल ज्योति से अभिसिक्त
 हो, सरस होये वसो-मूखी रसा के प्राण ?

सप्तम सर्ग

रामानल के बीच पुरुष कंचन-सा बलने वाला,
तिमिर सित्पु में डूब रहिम की घोर निकमने वाला,
ऊपर उठने को कदम से सड़ता हुआ कमल-सा,
ऊब-डूब करता चतुर्घटा धन में बिधु-मण्डल-सा ।

बय हो धम के गहन गठ में गिरे हुए भागव की,
मनु के सरल अशेषपुत्र की पुरुषभ्याति-सम्भव की ।
हार मान हो गयी म जिसकी किरण तिमिर की बासी,
म्योछाबर उस एक पुष्प पर कोटि-कोटि संभ्रासी ।

मही नहीं जीवित है मिट्टी से डरने वालों से,
जीवित है वह उसे फूंक सोना करने वालों से ।
असित बेस पश्चान्नि अगत् से निकल भागता योपी ।
धुनी बनाकर उसे तापता धनासक्त रसमोगी ।

रहिम-देख की राह यहाँ तम से होकर जाती है
उषा रोष रत्नो के सिर पर बड़ी हुई जाती है ।
घोर कौल है पड़ा नहीं जो कमी पाप-कारा में ?
किसके बसन नहीं भीये बैतरणी की धारा में ?

धम से नि हृति तक किसका पय रहा सदा उन्नत्यल है ?
तोड़ न सके तिमिर का अन्धत इतना कौन धरम है ?
सूर्य-सोम, दोनों डरते जीवन के पव पिच्छल से,
होते प्रसित, पुन बसते दोनों हो मुक्त कबल से ।

उल्लास-गिरता शिखर, मर्त, दोनों से पूरित पव पर,
 कभी विरव पसता मिट्टी पर, कभी पुण्य के रव पर,
 करता हुमा विकट रम तम से पापी पदचासापी,
 किरण-देस की घोर जमा जा रहा मनुष्य प्रतापी ।

जब तक है नर की धीलों में शेष ब्यथा का पानी,
 जब तक है करती विदग्ध मानव को मसिन कहानी,
 जब तक है प्रवक्षिष्ट पुण्य-जस की नर में घमिमापा,
 तब तक है असुण्ण मनुज में मानवता की घाशा ।

पुण्य-याप दोनों दुस्तों पर यह घाशा खिलती है
 कुरुक्षत्र के बिता-भस्म के भीतर भी मिसती है ।
 बिर्सने पाया इसे, बही है सात्त्विक धम-प्रणेता,
 सस्तेबक मानव-समाज का सखा, भ्रष्टणी, नेता ।

मिली युधिष्ठिर का यह घाशा धास्तिर रोते रोते,
 घाँसू के जस में घषीर घन्तर को घोठे-घोते ।
 कर्मभूमि के निकट विरागी को प्रत्यागत पाकर
 बोसे भीष्म युधिष्ठिर का ही मनोभाव दुहराकर ।

“घन्त नहीं नर-पव का कुरुक्षेत्र की धूस,
 घाँसू बरसें, तो यही खिने धाम्ति का फूस ।

‘डापर समाप्त हो रहा है जर्मराज, देसो,
 सहर समेटने सगा है एक पारावार ।
 जग से बिदा हो जा रहा है कास-सुख एक
 साय मिय घपनी समृद्धि की पिठा का क्षार ।
 संयुग की धूसि में समाधि युग की ही बनी,
 बह रही जीवन की घाज मो घजस बार ।

गठ हो प्रचेत हो गिरा है मृत्यु गोद-बीच,
निकट मनुष्य के प्रमागत रहा पुकार।

'मृति के प्रधूरे, स्वप्न भाग ही मिटे हैं यहाँ,
मर का जेता है नहीं भाग्य इस रण में।
घोषित में डूबा है मनुष्य, मनुष्यत्व नहीं,
छिपता फिरा है देह छोड़ वह मन में।
पाशा है मनुष्य की मनुष्य में न डूँडो उसे
धर्मराज मानव का शोक छोड़ बन में।
पाशा मनुष्यत्व की बिजेता के विनाप में है,
पाशा है मनुष्य की तुम्हारे अश्रुकण में।

“रण में प्रवृत्त राग प्रेरित मनुष्य होता,
रहती विरक्त किंतु मानव की मति है।
मन से कराहता मनुष्य पर ध्वंस-बीच
तम में नियुक्त उसे करती नियति है।
प्रतिघोष से हो दृष्ट वासना हुआती उसे,
मन को कूरेदती मनुष्यता की क्षति है।
वासना विराग दो कगारों में पछाड़ खाती
जा रही मनुष्यता बनाती हुई गति है।

ऊँचा उठ देखो तो किरीट, राज, धन, तप
जप, याग योग से मनुष्यता महान है।
धर्म-सिद्ध रूप नहीं भेद भिन्नता का यहाँ,
कोई भी मनुष्य किसी अन्य के समान है।
वह भी मनुष्य है न धन धीर बस जिसे,
मानव ही वह जो धनी या बलवान है।
मिमा जो निसर्ग सिद्ध जीवन मनुष्य को है
उसमें न बीखता कहीं भी व्यवधान है।

"अब तक किन्तु, नहीं मानव है देख सका
 मृत्यु बढ़ जीवन की समता धमरता।
 प्रत्यय मनुष्य का मनुष्य में न बढ़ धमी,
 एक दूसरे से धमी मानव है बरता।
 घीर है रहा सब संकित मनुष्य यह
 एक दूसरे में क्रोह-द्वेष-विष भरता।
 किन्तु, अब तक है मनुष्य बढ़ता ही गया
 एक दूसरे से सदा सङ्गता-भङ्गता।

"कोटि नर-वीर, मुनि मानव के जीवन का
 रह खोजते ही शिवरूप प्रायु भर है।
 खोजते इस ही सिधु मथित हुआ है घीर
 छोड़े गये ब्योम में धनक ज्ञान घर है।
 खोजते इसे ही पाप-रंक में मनुष्य गिरे,
 खोजते इसे ही बलिदान हुए नर है।
 खोजते इसे ही मानवों ने है विराग सिया
 खोजते इसे ही किये ध्वंसक समर है।

"खोजना हमे हो तो बसाओ सुन्न ज्ञान-दीप
 भाव बढ़ा वीर, क्रुद्धोत्र क हमदान से।
 राग में विरागी राज-दण्ड-बर योगी बनो,
 नर को दिशाओ पम्प त्याग-बलिदान से।
 दमित मनुष्य में मनुष्यता के भाव भरो,
 दप की दुरग्न करा दूर बसवान से।
 हिम-शीत भावना में प्राग धनुमूठि की दो
 छीन सो हमाह्न उदग्र धमिमाम से।

"रज रोकना है जो उल्लाह विपदन्त फेंको,
 बृक-व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो ।
 अथवा अजा के छागसों को भी बनाओ व्याघ्र
 दांतों में करास कासकूट-विष भर दो ।
 बट को बिशासता के नीचे जो अनेक वृद्ध
 ठिठुर रहे हैं उन्हें फसल का घर दो ।
 रस सोसता है जो मही का भीमकाय बृक्ष,
 उसकी शिराएँ ताड़ो डामियाँ कतर दो ।

'अमराज यह भूमि किसी की
 नहीं श्रेष्ठ है दासी,
 है जन्मना ममान परस्पर
 इसके सभी निवासी ।

'है सबको अधिकार मृत्ति का
 पोषक रस पीने का
 विविध अनाजों से अर्थात् हो—
 कर जय में जीने का ।

"सबको मुक्त प्रकाश चाहिए,
 सबको मुक्त समीरण
 बाधा रहित विकास मुक्त
 आशंकाओं से जीवन ।

"उद्भिज-निम आहत सभी नर
 बढ़ना मुक्त गगन में
 अपना चरम विकास खोजना
 किसी प्रकार भुवन में ।

‘सैकिल, विघ्न घनेक घनी
 इस पथ में पड़े हुए हैं
 मानवता की राह रोक कर
 पर्वत अड़ हुए हैं।

“भ्यायोचित सुख सुसम नहीं
 जब तक मानव मानव को,
 धर्म कहीं धरती पर तब तक
 शान्ति कहीं इस भव को ?

जब तक मनुज-मनुज का यह
 सुख-भाग नहीं सम होगा
 धर्मित न होगा कोसाहन
 सभय नहीं कम होगा।

“या पथ सहज भतीव सम्मिलित
 हा समग्र सुख वाता
 केवल अपने लिए नहीं
 कोई सुख भाग चुराना।

“उस भूस मर फेंसा परस्पर
 की शका म भय में
 निरल हुआ केवल अपने ही
 हेतु भोग-सभय में।

“इस वैयक्तिक भागवाद से
 फूटी विप की धारा
 सड़प रहा जिसमें पड़कर
 मानव-समाज यह सारा।

“प्रभु के दिये हुए सुख इतने
 हैं विकीर्ण धरणी पर,
 भोग सकें जो इन्हें जगत् में
 कहाँ मानी इतने नर ?

“भू से ते घम्बर तक यह जस
 कभी न घटने वासा
 यह प्रकाश यह पवन कभी भी
 नहीं सिमटने वासा

“यह परती फल फूल धम्म धन
 रतन उमसने वासी
 यह पातिका मृगव्य जीव की
 भटवी सधन निरामी

शुद्ध शृंग ये दोस कि बिनमें
 हीरक रतन मरे हैं
 ये समुद्र बिनमें मुक्ता
 बिद्रुम प्रवास बिचरे हैं ।

“ओर मनुज की मयी-नयी
 प्रेरक वे जिज्ञासार्थ !
 उसकी बे सुबसिष्ठ सिग्धु-मन्थन
 में रस भुजाएँ ।

“धन्वेपिणी बुद्धि वह
 तम में भी टटोसने वासी
 नव रहस्य नव रूप प्रकृति का
 निरय सोसने वासी ।

“इस भुज, इस प्रजा के सम्मुख
 कौन ठहर सकता है ?
 कौन बिभव वह ओ कि पुण्य को
 दुर्लभ रह सकता है ?

“इतना कुछ है मर्याद विभव का
 कोय प्रकृति के मीठर,
 निज इच्छित मुक्त-भोग सहज
 ही पा सकते मारि-नर ।

“सब हो सकते तुष्ट एक-सा
 सब सुख पा सकते हैं,
 चाहें तो पल में भरती को
 स्वर्ग बना सकते हैं ।

“छिपा दिये सब तरफ आवरण
 के मीचे ईश्वर ने,
 संपत्तों से लोभ मित्राभा
 उन्हें चषमो नर ने ।

“ब्रह्मा स कुछ लिखा माग्य में
 भनुज नहीं माया है,
 अपना सुख उसने अपन
 भुजबल से ही पाया है ।

“प्रकृति नहीं बर कर झुकती है
 कभी माग्य के बल से,
 सदा हारती वह मनुष्य के
 चषम से, धमकल से ।

“ब्रह्मा का अभिषेक पढ़ा
करते निरुद्धमी प्राणी,
घोते वीर कु घंफ भास का
वहा भ्रुबों से पानी।

“भाम्यवाद धावरण वाप का
घोर दास्य घोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का।

“पूछो किसी भाम्यवादो से
यदि त्रिपि घंफ प्रबल है,
यद पर क्यों बेती न स्वयं
यसुवा निज रतन उगल है ?

“उपजाता क्यों विमल प्रकृति को
सीप-सीप वह जस से ?
क्यों न उठा सेता निज सचित
कोप भाम्य के बस से ?

“घोर मरा जब पूर्व जन्म में
बह धन सचित कर के,
विदा हृषा वा न्यास समजित
किसके घर में घर के ?

“जममा है वह वही धाव
जिस पर उसका शासन है,
क्या है यह पर वही ? घोर
यह उमी याम का धन है ?

“यह भी पूछो, धन जोडा
उसने जब प्रथम-प्रथम था
उस संख्य के पीछे तब
किस भाग्यवाद का क्रम था ?

“वही मनुज के श्रम का शोषण
वही अनयमय दोहन,
वही मलिन छस मर-समाज से,
वही स्नानिमय धर्जन ।

“एक मनुज संचित करता है
अथ पाप के वस से
घोर भोगता उसे दूसरा
भाग्यवाद के छस से ।

“मर-समाज का भाग्य एक है,
वह श्रम, वह भुज-जन है,
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथिवी, विनीत नम-तम है ।

“जिसने श्रम-जन दिया उसे
पीछे मत रह जाने दो,
विजित प्रकृति से सबसे पहले
उसको सुख पाने दो ।

“जो कुछ ग्यस्त प्रकृति में है
वह मनुज मात्र का धन है,
धर्मराज उसके कण-कण का
अधिकारी जन-जन है ।

सहज-सुरक्षित रहता यह
प्रधिकार कहीं मानव का
पात्र रूप कुछ और दूसरा
ही होता इस भव का ।

श्रम होता सबसे प्रमुख धन
सब धन सब कमाते,
सब प्रसन्न रहते प्रभाव से
सब इच्छित सुख पाते ।

“राजा प्रजा नहीं कुछ होता
होते मात्र मनुज ही,
भाम्य-सेव्य होता न मनुज को
होता कर्मठ भुज ही ।

“कोम यहाँ राजा किसका है ?
किसकी कौन प्रजा है ?
नर ने होकर भ्रमित स्वयं ही
यह बन्धन चिरजा है ।

“बिना विघ्न प्रसन्न, धनिल सुखम है
मात्र सभी को जैसे,
कहते हैं वी सुखम भूमि भी
कमी सभी को जैसे ।

नर नर का प्रमी या मानव
मानव का विश्वासी,
अपरिग्रह या नियम, साग ये
कर्म सीन संग्रहासी

“बेचे धर्म के बर्घम में
सब सोग जिया करते थे
एक दूसरे का दुख हँसकर
बाँट लिया करते थे।

“उष्ण-मीष का भेद नहीं था,
जन-जन में समता थी।
या कुटुम्ब का जन-समाज
सब पर मवकी ममता थी।

‘जी भर करत काम, जरूरत भर
सब जन थे खाते,
नहीं कमी मिज का घोरों स
थे विधिष्ट बतसाते।

“सब थे बढ समष्टि-सूत्र में
कोई छिन्न नहीं था,
किसी मनुज का सुख समाज के
सुख से भिन्न नहीं था।

‘चिन्ता न थी किसी को कुछ
मिज-हित संबय करने की।
चुरु घास मानव-समाज का
घपना घर भरने की।

“राजा प्रजा नहीं था काई
घोर नहीं घासन था
धर्म-नीति का जन जन क
मन-मन पर अनुशासन था।

“घब ओ व्यक्ति-स्वत्व रक्षित है
दण्ड-नीति के कर से
स्वयं समावृत्त था वह पहले
बम मिरत नर नर से ।

“श्रुतु था बीबन-पन्थ पतुदिक
की उन्मुक्त दिशाएँ
पग-पग पर थीं झड़ी राश्व
नियमों की नहीं चिनाएँ

समायास मनुजुम सठय को
मानव पा सकता था
निज विकास की जगम भूमि तक
निर्भय या सकता था ।

तब पठा कसि भाव स्वाय बन
कर मनुष्य के मन में
मया फँसने गरम सोम का
छिपे छिपे जीवन में ।

“पदा कभी दुष्काम मरे नर
बीबित का मम डोसा
उर के किसी निमृत्त कोमे से
सोम मनुज का दोसा ।

“हाय रत्ता हाता सचित कर
तुने यदि कुछ घपना
इस संकट में घाज नहीं
पढ़ता यों तुम कसपमा ।

“नहीं टूटती सुक पर सब के
 साय बिपद यह मारी
 जाग मूढ़, धागे के हित
 सब भी तो कर तैयारी।

“धौर, जगा, सचमुच मनुष्य
 पछतावे स बहरा कर,
 सगा जोड़ने प्रपना धम
 धीरों की धाल बचाकर।

‘भता एक नर जिधर, उधर ही
 बसे सभी नर नारी,
 होने लगी धारम-रक्षा को
 भसग भसग तैयारी।

“शोभ-भागिनी न विप फूँका,
 धुक् हो गयी पारी
 लूट, मार, शोषण प्रहार
 छीना - भपटी, बरजारी।

“छिन्न-भिन्न हो गयी शृङ्खला
 नर - समाज की सारी,
 सगा बुझने कोसाहस के
 बीष मही बपारी।

“तब धायी तसबार धमित
 करमे को जगहहन वा
 सोमा में बांधने मनुज की
 नयी शोभ - नागिन को।

"घोर सबगधर पुरुष विक्रमी
 शासक बमा मनुज का,
 हस्त नीति घारी भाषण
 नर-जन में छिपे वनुष का।

'तज समष्टि को व्यष्टि बसी थी
 निज को सुनी बमाने,
 गिरी गहन दासत्व-गत के
 बोध स्वयं धनवान।

'नर से नर का सहज प्रेम
 उठ जाता नहीं भुवन से
 छन करने में सकृत्पाता यदि
 मनुज कहीं परिवर्तन से।

"रहता यदि विश्वास एक में
 अचल दूसरे नर का
 निज सुक-चिन्तन में न भ्रमता
 वह यदि ध्यान उपर का।

"रहता याद उसे यदि वह कुछ
 घोर नहीं है नर है
 विद्व बलधर मनु का पनु—
 पसी से मोनि इतर है।

तो न मानता कभी मनुज
 निज मुन गौरव राम में
 किसी राजमत्ता के सम्मुख
 बिनत दाम दानों में।

“सह न सका जो सहज - सुकोमल
 स्नेह - सूत्र का बंधन
 दण्ड - नीति के कुलिश पाश में
 भय है बद्ध वही जन ।

“दे न सका मर को मर जो
 सुल - माम प्रीति से मय से
 आज दे रहा वही माग बहु
 राज - लडग के भय से ।

“धवहेसा कर सत्य-न्याय के
 शीतल सद्गारों की
 समझ रहा मर आज भली विष
 भाया तमबारों की ।

“इससे बढ़कर मनुष्य बल का
 धीर पतन क्या होगा ?
 मानवीय गौरव का जोशो
 धीर हनन क्या होगा ?

“नर-समाज को एक लडगधर
 नृपति चाहिए मारी
 डरा करे जिससे मनुष्य
 प्रत्याभारी प्रविचारी ।

“नृपति चाहिए, क्योंकि परस्पर
 मनुष्य सड़ा करते हैं
 लडग चाहिए क्योंकि न्याय से
 वे न स्वयं डरते हैं ।

“नृपति चाहिए, जो कि उन्हें
पशुओं की भाँति बसाये
रहे धन्य से दूर भीति-भय
पग - पग पर सिखसाये ।

“नृप चाहिए मरों को जो
समझे उनकी भावना
रहे छींटता पक्ष-पक्ष
पारम्परिक कर्म पर पानी ।

“नृप चाहिए, नहीं तो घावस
में वे सब लड़के
एक दूसरे के घोरित में
लड़कर दूब मरेगे !

“राजतंत्र घोरक है नर की
ममिल निहीन प्रकृति का
मानवता की म्सासि घोर
कृत्स्न कर्मक संस्कृति का ।

“घाया था यह प्रगति रोकने
को कर्म दुर्गुण की
नहीं बाँधने को सीमा
उन्मुक्त पुरुष के गुण की ।

‘सो देखो सब बिद्या विचारों
की भी निर्धारित है
राज-नियम से परे कर्म क्या
चिन्तन भी वारित है ।

“कृष्ण हों कि हों विदुर, नियोजित
 सब पर एक नियम है,
 सब क मन, सब और क्रम पर
 मनुशासन का क्रम है।

“इनकी भी यदि क्रिया रही
 मनुकूम नहीं सत्ता के
 तो ये भी तृणवत् नगण्य हैं
 सम्मुख राजप्रथा के।

“जा कुछ है उसका रक्षण ही
 ध्येय एक शासन का
 नयी भूमि को घोर न बह
 सकता प्रवाह जीवन का।

“कहीं रुढ़ि-विपरीत बात
 कोई न बोस सकता है।
 नया धर्म का भेद मुक्त
 हीकर न सोल सकता है।

“प्रोवा पर दुष्टोत्त तंत्र को
 सिला ममानक धारे
 घूम रहा है मनुज जनत् में
 अपना रूप बिछारे।

“अपना बस रक्त सका नहीं
 अविचल वह अपने मन पर
 मत, बिठाया एक सङ्गमर
 प्रहरी निज जीवन पर।

“घौर घाव प्रहरी यह देता
उसे न हिमने-बुझने
रुद्धि-बाध से परे मनुष्य का
रूप गिराता सुसने ।

“किन्तु, स्वयं मर ने कुहूस्य से
सुंभव किया इसे है,
घापस में लड़ भगड़ उसी ने
पादर दिया इसे है ।

‘जब तक स्वार्थ-सीम मानव के
मन का पूर न होगा ।
तब तक नर-समाज से प्रतिघर
प्रहरी दूर न होगा ।

“नर है विद्वत् प्रत नरपति
बाहिए धर्म ध्वज भारी
राजतंत्र है हेय इसीसे
राजधर्म है भारी ।

“धर्मराज संन्यास बोजना
कायरता है मन की
है सच्चा मनुष्यत्व प्रमिषया
सुसभ्यता जीवन की ।

“दुसंभ नहीं मनुष्य के हित
निज बंधितक सुख पाना
किन्तु कठिन है कोटि-कोटि
मनुष्यों की सुली बनाना ।

“एक पन्थ है छोड़ बगत् को
घपने में रम जाओ
बोजो घपनी मुक्ति धीर
निज को ही सुखी बनाओ।

“अपर पन्थ है धीरों को भी
निज विवेक-बल से कर,
पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से
घाय बहुत को से कर।

“जिसे तप से तुम चाह रहे
पाना केवल निज सुख को
कर सकता है दूर बही तप
अमित नरों के दुख को।

“निज तप रखो चुरा निज हित
बोसो क्या न्याय यही है ?
क्या समष्टि-हित मोक्ष-दान का
उचित उपाय यही है ?

“निज को ही देखो न युधिष्ठिर !
देखो निश्चित भुवन को
स्वयम् शान्ति-सुख की ईहा में
निरत व्यग्र जन-जन को।

“माना इच्छित शान्ति तुम्हारी
तुम्हें मिलेगी वन में
चरण-बिह्व पद, कौन छोड़
जाओगे यही भुवन में ?

"स्वात् दुःख से तुम्हें कभी
निर्जम में मिस किनारा
सरण कहीं पायेगा पर, यह
बहमान बग सारा ?

धोर कहीं प्रादस तुम्हारा
ग्रहण कर मर-नारी
तो फिर जाकर बने विपिन में
बलङ्क सृष्टि यह सारी ।

"बसी भूमि मरुधट बन जाये
राजमवन हो सुना
जिससे डरता यती उसी का
बन् बन जाय समुना ।

"विशिष ताप में सगें वहाँ भी
जसने यदि पुरवासी
तो फिर भाये उठा कमण्डमु
बन से भी संन्यासी ।

"धर्मराज क्या यती भापता
कमी गेह या बन से ?
सदा भामता फिरता है वह
एक मात्र जीवन से ।

"वह चाहता सदैव मयुर रस
महीं तिक्त या सोमा ।
वह चाहता सदैव प्राप्ति ही
महीं कमी कुछ सोना ।

प्रमुदित पाकर विजय पराजय
 देख खिन्न होता है
 हंसता देख विकास ह्रास को
 देख बहुत रोता है।

"यह सकृता न तटस्य श्रीभ्रता
 रोता प्रकृताता है
 कहता क्यों जीवन उसके
 अनुरूप न बन पाता है।

"मेकिन जीवन जडा हुआ है
 सुपर एक डबि में
 प्रसग-प्रसग वह बसा करे
 किसके-किसके सचि में ?

"यह धरप्य सुरमुट जो काटे,
 धपमी राह बना से
 श्रीत दास यह नहीं किसी का
 जो चाहे धपना से।

"जीवन उनका नहीं मुषिष्ठिर,
 जो उससे डरते हैं
 वह उमका जो धरण रोप
 निभय हाकर लड़ते हैं।

"यह पयोधि सबका मुल करता
 विरत सबण-कट्ट जल से
 दता सुधा उन्हें जो मषते
 इमे मन्दराधस से।

"बिना बड़े पुनगी पर जो
वाहता मुझफस पाना
पीना रस-पीयूष किन्तु
यह मन्दर नहीं उठाना ,

"सारा कह जीवन समुद्र को
वही छोड़ देता है
सुषा-सुरा-मपि रस-कोप से
पीठ फेर लेता है।

"माग लड़ा होता जीवन से
स्पात् सोच यह मन में
सुख का प्रलय कोप कहीं
प्रतिष्ठ पड़ा है बन में।

"जाते ही वह जिसे प्राप्त कर
सब कुछ पा जायेगा
गेह नहीं छोड़ा कि देह पर
फिर न कभी धायगा।

"जमाकीर्ण धग से व्याकुल हो
निकल भागना बन में
धमराव है घोर पराजय
मर की जीवन रण में।

"यह निवृत्ति है ग्मानि पमायन
का यह कुरिष्ठ भ्रम है
नि शेषस यह धर्मित पराजित
बिजित बुद्धि का भ्रम है।

“इसे दीखती मुक्ति रात से
 थबक मूँद सेने में
 और दहन से परित्राण-पथ
 पीठ फर देने में ।

“महद्मोठ प्रति कास छिपाती
 सजग लीम-बस तप को
 छाया में डूबती छाड़कर
 जीवन के घातप को ।

“कर्म-सोक से दूर पलायन—
 कुंज बसा कर घपना
 निरी कल्पना में देखा
 करती प्रसम्भ का सपना ।

“वह सपना जिस पर अंकित
 उँमसी का दाग नहीं है
 वह सपना जिसमें श्वसन्त
 जीवन की घाण नहीं है ।

“वह सपनों का देश कसुम ही
 कसुम जहाँ बिसते हैं
 उठती कहीं न धूल न पथ में
 कण्टक हा मिसत हैं ।

“कटु को नहीं मात्र सत्ता है
 जहाँ मधुर-कामस की
 सोह पिपस कर जहाँ रसिम
 बन जाता बिधु-मण्डस की ।

"जहाँ मानती हुकम कल्पना
का जीवन-धारा है
होता सब कुछ वही जो कि
मानव-मन को प्यारा है।

"सस बिरक्त से पूछो, मन से
वह जो देख रहा है
सस कल्पना-बनित जग का
मू पर अस्तित्व कहाँ है ?

"कहाँ बीपि है वह सेवित है
जो केवल फूलों से।
कहाँ पत्र वह जिस पर छिप्तते
भरण नहीं शूनों से ?

"कहाँ वाटिका वह रहती जो
सतत प्रफुल्लित होती है ?
ज्योम-खण्ड वह कहाँ
कर्म रज जिसमें नहीं भरी है ?

"वह तो भाग छिपा चिन्तन में
पीठ फर कर रण से
बिदा हो गये पर क्या इससे
दाहक दुख भुवन से ?

"घोर, कहे क्या स्वयं जग
कतम्य नहीं करना है ?
नहीं कमा कर नहीं मीरा से
क्या न उदर भरना है ?

“कर्मभूमि है जिसमें महीतम
जब तक नर की छाया
तब तक है जीवन के धनु-मनु
में कर्मस्य समाया।

“क्रिया - धम को छोड़ मनुज
कैसे निज सुख पायेगा ?
कर्म खेपा साथ भाग वह
जहाँ कहीं जायेगा।

“धमराज कर्मों मनुष्य का
पथ सम्यास नहीं है
नर जिस पर बसता वह
मिट्टी है धाकाय नहीं है।

“ग्रहण कर रहे जिसे धाम
तुम निर्बन्धन मन स
कर्म - ग्यास वह तुम्हें दूर
से जायेगा जीवन से।

“दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ
थेय नहीं जीवन का
है सड़मं शीघ्र रख उसको
हरना विमिर भुवन का।

“धमा रही तुमको बिरक्ति या
वह धस्वस्य, धरम है
प्रकर्मन्वता की छाया वह
तिरे ज्ञान का छस है।

"बचो पुबिष्ठर, कहीं डुबो दे
तुम्हें म यह चिन्तन में
निष्क्रियता का घूम भयानक
भर न जाय जीवन में ।

"यह बिचकित निष्कर्म बुद्धि की
ऐसी सिप्र सहर है
एक बार जो उड़ा सौट
सकता न पुन' वह धर है ।

"यह अनित्य कह-कह कर देती
स्वाधीन जीवन को
निद्रा को जायति बताती
जीवन प्रथम मरण को ।

"सत्ता कहती घनस्तिरव को
घोर साम खोने को
श्रेष्ठ कर्म कहती निष्क्रियता
में विभीन होने को ।

"कहती सत्य उसे केवल
जो कुछ गोठीठ घनम है
मिथ्या कहती उस गोधर को
जिसमें कर्म सुभम है ।

"कर्महीनता को पनपाती
है विसाप के बस से
काट गिराती जीवन के
तर को विराग के उस से ।

“सह सकती यह नहीं कर्म-संकुस
 भग के कस-कस को,
 प्रसन्न करती प्रत, विविध विष
 नर के दीप्त मनस को।

“हर लेती आनन्द - हास
 कसुमों का यह बुम्बल से,
 और प्रगतिमय कम्पन जीवित,
 अपन तुहिन के कण से।

“शेष न रहते सबस गीत
 इसके विहंग के उर में,
 बबली नहीं वासुरी इसकी
 उद्वेसन के सुर में।

“पीधों से कहती यह तुम मत
 बड़ो, वृद्धि ही पुष्प है,
 आरम-नाथ है मुक्ति महत्तम,
 मुरझाना ही पुष्प है।

“सुविक्रम, स्वस्थ सुरम्य सुमन को
 मरण भीति दिखसा कर,
 करती है रस भग, काम का
 भोजन ~~से~~ बता कर।

“श्री, सौन्दर्य सेज, सुख,
 सबसे हीन बना देती है,
 यह विरक्ति मानव को दुर्बल
 वीत बना देती है।

“नहीं मात्र उत्साह हरण
करती मर के प्राणों से,
लेतो छीन प्रताप मुजा से
घोर शीघ्र बाणों से।

‘धमराज किसको न ज्ञात है
यह कि अनित्य जगत है,
बनमा कौन काम का जो मर
हुया नहीं धनुमत है?

“किन्तु, रहे पस-पस अनित्यता
हो जिस मर पर छापी
नद्वरता को छोड़ पड़े
कुछ घोर नहीं दिसनायी।

“द्विधामूढ़ यह कर्म योग से
कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के
रम में सड़ सकता है।

“तिरस्कार कर वर्तमान
जीवन के उदसता का
करता उहठा ध्यान महनिष्ठ
जो विद्रुप मरण का,

‘प्रकर्मण्य यह पुरुष काम
किसके कब भा सकता है?
मिट्टी पर कैसे यह कोई
कसुम जिसा सकता है?

"सोभेगा वह सदा निखिल
भवनीतम ही नद्वर है
मिथ्या यह धम भार, कुसुम ही
होता कहीं धमर है ?

"अग को छोड़ सोवता फिरता
अपनी एक धमरता
किन्तु, उसे भी कभी भीस
आती अजेय नद्वरता ।

"पर, मिबिध्न सरणि अग की
तब भी धमती रहती है
एक शिक्षा से भार धपर का
धमती ही रहती है ।

"रुद्र आते हैं कुसुम धीर्नदस
नये धूम खिलते हैं
रुद्र आते कुछ दस में फिर
कुछ नये धमिक मिलते हैं ।

"अकमप्य पण्डित हो आता
धमर नहीं रोने से
आयु न होती क्षीण किसी की
कम - भार होने से ।

"इतना भेद धवदध युधिष्ठिर !
दोनों में होता है
हंसता एक मूर्ति पर, नभ में
एक लड़ा रोता है ।

"एक सजाठा है धरती का
प्रथम फुल्ल कमल से
भरता मूतम में समृद्धि सुपमा
प्रपन मुञ्जबल से ।

"एक समता हुआ भूमि का
विबिध ताप को सहता
कभी खेमता हुआ ज्योति से
कभी तिमिर में बहता ।

"अगम-भक्त को फोड़ बहाता
भार मूर्ति के पय की
रस पीता दुन्दुभी बजाता
मानवता की अय की ।

"होता विदा अगत से जग को
कुछ रमणीय बना कर
साय हुआ या जहाँ वहाँसे
कुछ भागे पहुँचा कर ।

"धोर सूखटा कर्महीन चिन्तन
का सिये सहारा
अम्बुधि में निर्यात खोजता
फिरता विफल किनारा ।

"कर्मनिष्ठ नर को भिक्षा पर
सदा पालते तम को
अपने को निरिच्छ अक्षम
बतलाते निरिच्छ सुबन को

“कहता फिरता सदा जहाँ तक
 दृश्य वहाँ तक छल है
 वो अदृश्य जो अज्ञान अगोचर,
 सत्य बही केवल है ।

“मानो सचमुच ही, निम्न्या हो
 कमलज यह काया
 मानो पुण्य प्रताप मनुज के
 सचमुच ही, हों माया ।

“मानो कर्म छोड़ सचमुच ही
 मनुज सुपर सकृता हो,
 मानो वह अम्बर पर तजकर
 भूमि ठहर सकृता हो ।

“कल्पु निहित मानो सच ही हो
 जम्म-साम सेने में
 भूष से दुल का विषम भार
 ईपस्तधु कर देने में ।

“यद्य रूप रस शब्द स्पर्श
 मानो सचमुच पातक हों ।
 रसना त्वचा घ्राण दृग् श्रुति
 ज्यों मित्र नहीं पातक हों ।

“मुक्ति-वन्द्य सुसता हो मानो
 सचमुच आत्म-हान से
 जानो अज्ञान ही अज्ञान से

“मानो निश्चित सृष्टि यह कोई
आकस्मिक घटना हो,
जन्म-साय उद्देश्य मनुज का
मानो नहीं बना हो।

“धर्मराज क्या दोष हमारा
घरती यदि मन्दिर है?
मेजा गमा यहाँ पर घाया
स्वयं न कोई नर है।

“निहित न होता भाग्य मनुज का
यदि मिट्टी मन्दिर में
बिन्दु-योनि घर मनुज जनमता
स्यात् कहीं सम्बर में—

“किरणरूप निष्काम रहित हो
धृषा तृषा ने स्व से
कम-बन्ध से मुक्त हीन दुग
धवम नयन पद भुज से।

“किन्तु, मुक्ति है बठिन मनुज को
मूस सगा करती है
स्व से मन तन विविध भाँति
की तृषा जगा करती है।

“यह तृष्णा, यह मूस न शिती
सोने कमी मनुज को
मन को चिन्तन घाट, कर्म की
घोर भयती मूज को।

“मन का स्वयं नुमा वह बिसकी
 दह न पा सकती है
 इससे तो प्रच्छा वह जो कुछ
 नुमा बना सकती है।

“क्योंकि भुजा जो कुछ सात्री
 मन भी उसकी पाटा है
 निराध्यान मुझ क्या ? मन को नी
 दुसन रह जाता है।

“सफल भुजा वह मन को नी जो
 भर प्रमाद-महूर से।
 सफल ध्यान प्रकन प्रसाध्य
 रह जाय न शिसका कर म।

जहाँ भुजा का एक पय ह्रा
 अस्य पय चिन्तन का
 सम्यक रूप नहीं सुमता उस
 दह प्रमत्त जावन का।

“केवल जानगयो निवृत्ति म
 द्विधा न मिट सकती है
 अगत छोड़ देने से मन की
 वृथा न बट सकती है।

“बाहर नहीं शत्रु, छिप जाये
 जिसे छोड़ मर बन में
 जामो जहाँ, वहीं पाषाण
 इसे उपस्थित मन में।

“पर, जिस धरि को यती जीतवा
जग से बाहर षाकर,
धर्मराज तुम उसे जीत
सकते जग को धपना कर।

‘हठयोगी जिसका वध करता
आत्म हनन के क्रम से
जीवित हो तुम उसे स्व-वश में
कर सकत संयम से।

‘गौर जिसे पा बन्धी न सकता
स-पासी बैरागी
जग म रह कर हो सकते तुम
उस मुक्त के भी भागी।

“वह तुम जो मिमता धसंस्थ
मनुजों का धपना हो कर,
हंस कर उनसे पाप हर्ष में
और दुःख में नो कर।

“वह जो मिसता भुजा पगु की
आर बड़ा देने से
कर्मों पर दुःख दरिद्र का
याम उठा देने स।

‘सुष्ठु भूमि वन ही न मही यह
देखा बहुत बड़ी है
पग पग पर साहाय्य हेतु
दीगता विपिन्न लड़ी है।

“इसे चाहिए धन, बसन जस
 इसे चाहिए पापा
 इसे चाहिए सुदृढ़ चरण भुज
 इसे चाहिए मापा ।

“इसे चाहिए वह भ्रांकी
 जिसको तुम देख चुके हो
 इसे चाहिए वह मन्त्रिन
 तुम घाकर जहाँ रहे हो ।

“धर्मराज जिसके भय से तुम
 त्याग रहे जीवन को
 उस प्रदाह में देखो जसते
 हुए समग्र भुवन को ।

“यदि संन्यास छोड़ है इसका
 तो मत युक्ति छिपाओ
 सब हैं बिकस, सभी को अपना
 मोक्ष भग्न सिखलाओ ।

“जाओ, समित करो निब तप से
 सर के रामानस को
 बरसाओ पीयूष करो
 अभिसिक्त दग्ध भूतल को ।

“सिंहासन का भाग छीनकर
 दो मत निबन बन को
 पहचानो निज कम युधिष्ठिर !
 रुडा करो कुछ मत को ।

“सत-विसत है भरत भूमि का
शंभु शंभु बाणों से
साहि त्राहि का पाव निकमता
है असक्य प्राणों से ।

‘कोसाहस है महा श्रास है
बिषय धाज है भारी,
मृत्यु बिबर से निकम चतुर्दिक
तड़प रहे नर-नारी ।

इन्हें छोड़ बन में जाकर तुम
कीन शान्ति पाओगे ?
भेतम की सेवा तज षड़ को
कैसे अपनाओगे ?

‘पोंछो प्रभु पठो, प्रुत जाओ
बन में नहीं, मुबन में ।
होओ लड़े असक्य नरों की
धात्रा बन बीबन में ।

‘बुना रहा निष्काम कर्म बह
बुना रही है गीता
बुना रही है तुम्हें प्राण हो
मही समर संमीता ।

“इस विविक्त, पाहुत बसुबा को
प्रभुत पिताना होगा
प्रमित लता-गुस्मों में फिर से
सुमन विमाना होपा ।

हरना होगा मयु ताय
 हुन - बन्धु मनेक नरों का
 सीटाना होगा सुहास
 प्रगणित विपण्य मधरों का ।

"मरे हुओं पर ममराज
 अधिकारन कुछ जीवन का
 होता पड़ता सदा
 जीवितों को ही नार मुबन का ।

"मरा सुयोधन जमी पड़ा
 यह मार तुम्हारे पामे ।
 संभोगे यह सिखा तुम्हारे
 किसके और संभाले ?

"मिट्टी का यह मार संभालो
 बन कमठ संन्यासी
 पा सकता कुछ नहीं मनुज
 बन केवल ब्योम - प्रभामी ।

"ऊपर सब कुछ धूम्य-धूम्य है,
 कुछ भी नहीं गगन में
 धर्मराज ! जो कुछ है वह है
 मिट्टी में जीवन में ।

"सम्पत् विधि से इन्क प्राप्त कर
 मर सब कुछ पाता है
 मृत्ति - जमी के पास स्वर्न हा
 मम्बर भी घाता है ।

"क्षत-विक्षत है भरत भूमि का
शग शग शायों से
चाहि चाहि का नाद निकसता
है असक्य प्राणों से।

"कोसाहस है महा पास है
बिषय प्राय है भारी
मृत्यु बिवर से निकल चतुर्विध
तदप रहे नर नारी।

"इन्हें छोड़ वन में जाकर तुम
कीन शान्ति पाओगे ?
चेतन की सेवा तब जब को
कैसे अपनाओगे ?

"धौंछो प्रसू, उठो द्रुत जाओ
वन में नहीं सुवन में।
हाथो लड़े प्रसक्य नरों की
प्राणा वन बीजम में।

"बुसा रहा निष्काम कर्म बह
बुना रही है पीठा
बुसा रही है तुम्हें पार्स हो
मही समर संभीठा।

"इस विविध चाहत बसुधा को
धमूत पिप्ताना होगा
धमित जटा-मुस्मों में फिर से
सुमन सिप्ताना होगा।

“हरना होगा प्रभु ताप
 हूँ बंधु अनेक मरों का
 सौटाना होगा सुहास
 भगणित - विवण्य अघरों का ।

“मरे हूँ पर धर्मराज
 अधिकारम कुछ जीवन का
 डोना पढ़ता सदा
 जीवितों को ही मार मुबन का ।

“मरा सुयोधन जमी पडा
 यह मार तुम्हारे पामे ।
 संभसेमा यह सिवा तुम्हारे
 किसके और संभासे ?

“मिट्टी का यह मार संभासो
 वन कर्मठ संन्यासी
 पा सकता कुछ नहीं मनुष्य
 यन केवल ध्योम - प्रवासी ।

“अमर सब कुछ पुन्य-शून्य है
 कुछ भी नहीं गगन में
 धर्मराज ! जो कुछ है वह है
 मिट्टी में जीवन में ।

“सम्यक विधि से इस प्राप्त कर
 मर सब कुछ पावा है
 मृत्ति - जयी के पास स्वयं ही
 धम्बर मो आता है ।

मोगो तुम इस मांति भूनि को
दाग नहीं लग पाये
मिट्टी में तुम नहीं वही
तुममें विसीन हो आये ।

“मोर सिखाया मोगवाद की
वही रीति जन जन को
करें विसीन देह को मन में
नहीं देह में मन को ।

“मन का होगा प्राधिपत्य
जिम दिन मनुष्य के तन पर,
होगा स्थाय्य अधिष्ठित जिस दिन
मोग सिप्त जीवन पर ।

“कंपल को नर साध्य नहीं
साधन जिस दिन आनेगा
जिस दिन सम्यक रूप मनुज का
मासक पहूपायेगा ।

“बस्करत मुकुट परे दोनों क
छिया एक जो नर है
मस्तुर्वाही एक पुष्य जो
पिण्डों स ऊपर है ।

“जिस दिन देस उसे नायेगा
मनुज ज्ञान के बस स
रह न पायगी उमरु दृष्टि जब
मुकुट मोर बस्करत से ।

“उस दिन होगा सुप्रभात
मर के सीमाम्य-उदय का
उस दिन हागा दल ध्वनित
मानव की महा विजय का ।

“धर्मराज गन्तव्य देश है पुर,
न देर लगाओ,
इस पथ पर मानव-समाज को
हुछ धागे पहुँचाओ ।

“सच है मनुज बड़ा पापी है
मर का वध करता है ।
पर, मुझे मठ मानव के हित
मानव ही मरता है ।

“सोम ब्रह्म प्रतिशोष कर,
मरता के विष्णु धर्मित है
तप बलिदान त्याग के संबन्ध
भी न किन्तु परिमित है ।

“प्रेरित करो इतर प्राणी को
निज चरित्र के बस से
मरो पुण्य की किरण प्रका में
अपने तप निर्मल से ।

“मठ सोचा दिन रात पाप में
मनुज निरठ होता है
हाथ पाप के बाद वही तो
पछताता रोता है ।

'यह नन्दन यह बभ्रु मनुज की
 धाधा बहुत बड़ी है
 बतसाता है यह मनुष्यता
 अब तक नहीं मरी है।

"सत्य नहीं पातक की खासा
 में मनुष्य का जलना
 सच है वस समेट कर उसका
 फिर धाये को जलना।

'नहीं एक धनधन्य जगत का
 धामा पुष्प-वती की
 तिमिर-ध्रुव में फँसी किरण भी
 धाधा है भरती को।

"फूलों पर धाँसू के मोती
 धीरे धधु में धाधा
 मिट्टी के जीवन की छोटी
 मपी तुमी परिभाषा।

"धाधा के प्रदीप को जलाये जसो धर्मराज
 एक दिन होगी मुक्त भूमि रण भीति से।
 भावना मनुष्य की न राग में रहेगी सिन्धु
 सेबित रहेगा नहीं जीवन धनीति से।
 द्वार से मनुष्य की न महिमा घटेगी धीरे
 तेज न बढ़ेगा किसी मानव का भीति से।
 स्नेह-बलिदान होंगे माप मरता के एक
 परती मनुष्य की बनेगी हजग प्रीति से।"

टिप्पणियाँ

प्रथम सर्ग

१—वह कीम रोता है वहाँ ?

इस पंक्ति को लेकर कई प्रकार की घटकमें सपामी पयी हैं। परन्तु पाठ ने समझ है कि यह बर्मराज मुबिष्ठिर के लिए है। किन्तु मुड के इतिहास प रोनेवाला कोई भी व्यक्ति हो सकता है। मुबिष्ठिर, मुड महावीर, मशोक ईसा बुनवीरास पाँची टालस्टाय बर्ट्रेड रचन रोम्पा रोता ये सभी महत्त्वपूर्ण मुड विरोधी हुए हैं। ये बड़े नाम हैं। परन्तु साधारण सोय भी मुड के इतिहास पर रोते रहे हैं। यहाँ मस्य कोई एक व्यक्ति नहीं है। जो भी मुड का विरोधी है, वह यहाँ कर्ता बानी रोनेवाला माना जा सकता है।

२—प्रलय = निरवास। व्याहार = बचन। बलास = श्वेत।

३—पकिकाय बाण्डव भीम = भीम जब नवजात शिशु के एक बार के माता की पोर से नीचे बटान पर गिर पये। इन्हें भीम को ठो कुछ नहीं हुआ किन्तु वह बटान बुर-बुर हो पयी। इसी से भीम का नाम बन्वाप और पकिकाय पड़ गया।

४—श्रीपुत्र के शीस की मणि छीनकर = जब असुरवामा ने राठ के पत्नकार में श्रीपरी के पाँच पुत्रों की मार जाता और अपना धाम्नेवात्म बचप पर्म कर जाता दिया पाण्डवों ने जतका पीछा किया और पकड़ कर उसे मार लमा जाया। किन्तु अमृत में निरक्षय यह हुआ कि असुरवामा के ललाट पर जो मणि है, उसे छीनकर उसे जीवन-दान दे दिया जाय। यह मणि मुबिष्ठिर की धात्रा से भीमसेन ने श्रीपरी के हाथ में ली थी। बचप के बर्म से जो बालक (बपीलित) जनमा वह मुठ बा। उसे मयवान भीहम्प ने जीवित कर दिया।

५—एतत्त वह करणत हुआ या उड़ गया ?

मनुष्य मुड में किस उद्देश्य से प्रभूत होता है ? मुड से कोई भी मस्य प्राप्त

नहीं होता। मनुष्य पहले तो सड़कर बिनाश भोगता है फिर बाद को सधम प्राप्ति के लिए वह धार्मिक उपायों में नये ढंग के विचार करने लगता है। मुझ से प्राप्त होनेवासा कोई नाम उतना धेष्ट नहीं माना जा सकता जो नाम शक्ति से प्राप्त होता है। कोई भी बिनाश भौतिक दृष्टि से यह नहीं कह सकता कि मुझ से उमका मरण पूर्व हो गया है।

१—बस-सा कुछ टूट कर स्मृति से गिरा—स्मृति धाकास है। बस यह पार माना है कि मुझ में धर्मिण्य का बग सम्पायपूर्वक हुआ है।

द्वितीय सग

१—धायी हुई मृत्यु से कहा धर्म्य भीष्म ने—

भीष्म के पिता शांतनु सरयवती नामक युवती पर प्रामक हो गये थे। शांतनु युवती के साथ अपने पिता का विवाह कराने के क्रम में ही भीष्म को धर्म्य ब्रह्मचर्य निजाने की भीष्म प्रतिज्ञा करती पड़ी थी। भीष्म के इसी कृत्य से प्रसन्न होकर राजा शांतनु ने भीष्म को ब्रह्म-भरण का बरदान दिया था और कहा था कि तुम्हादी अनुमति पाये बिना मृत्यु तुम्हारे पास नहीं पायेगी।

२—बुझती शिक्षा में दिया बूत मयमान ने—

धर्म्य जब युद्धभूमि में धायी बह अपने विरोध में सड़े युद्धजनों की ओर श्रिय सस्त होकर फिर गया। वह बिलबुल सड़ने को तैयार नहीं था। धर्म्य का प्रीह दूर करने को ही भगवान श्रीकृष्ण ने गीता कही। तब कहीं जाकर धर्म्य युद्ध के लिए तैयार हुआ। धर्म्य जो धाय भुमी जा रही थी उसमें पूत डालकर मयमान ने उसे प्रज्वलित कर दिया।

३—सड़को विगष्ट किया एक धर्मिण्य ने—

धर्म्य युद्ध का धारम्भ केवल सुन प्राप्त करने को दिया जाता तो युद्ध के लिलाक भी इसीमें है वे इतनी मजबूत हैं कि उनके कारण युद्ध प्रसंग हो जाते। लेकिन युद्ध व्यक्तियत धर्म्य सामूहिक युद्धों को दृष्टि में रखकर नहीं धारम्भ किया जाते। उनका धारम्भ सर्व धर्म्य के कारण होता है, धर्मिण्य के कारण होता है। धर्मिण्य नाम से यह समझ सगता था कि पाँच पाँच देऊँ सगि कर

का प्रस्ताव स्वीकरणीय और बांछनीय प्रस्ताव था। किन्तु उसका प्रमिमाण को यह प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं हुआ। और महाभारत के कारण मनुष्यता की आ पगार क्षति हुई, उससे तो घबराया यही था कि पाण्डव राज्य पाने की इच्छा ही छोड़ देते। धात्रिण उनसे बड़े संघाम का परिणाम क्या हुआ ? सन्ध्या के नीतर कपिधाम का प्रवण।

४—युद्ध मनस है—

ममदान ने गीता में कहा है युद्ध में या तो वीर-यति प्राप्त होती है अथवा निरप। इनो का प्राप्यति स्वयं त्रित्वा वा भीशस महीम्। शैर्तो ही अथस्वाधो में युद्ध पवित्र कार्य है।

२—हम में क्या है यहाँ कीन किम पाप से ?

धर्मिण्युको सात महारथियों ने घेरकर मारा। मीप्य विलंबी के द्वारा गिराये पड़े। शोक को निःशस्त्र बनाने के लिए युधिष्ठिर को झूठ बोलना पड़ा। लड़ना छोड़कर प्राण जब समाधिमान हो रहे थे अष्टद्युम्न ने उमी समय उनकी गरदन काट दी। सात्यकि ने भूरिभवा का मस्तक उस समय काट लिया जब वह लड़ना छोड़कर समाधि में बैठ गया था। महाभारत से भी यही सिद्ध होता है कि युद्ध पवित्र मार्ग पर रहकर सड़ा ही नहीं जा सकता।

३—मोह-सगी जीत मुझे दीवती भगव है।

यह महात्मा गाँधी की भावना की प्रतिष्पति है। वे अकार कहा करत थे कि हिंसा एवं रक्तपात के द्वारा प्राप्त स्वराज्य मुझे स्वीकार नहीं होया। त्रितीय विरबयुद्ध के समय उन्होंने यह भी कहा था कि भारत का स्वराज्य यदि अंदन और पेरिस के सम्पावरोप पर मिला भी तो मैं उसका स्पर्ष नहीं करूँगा।

७—धीर तब उठना आकाश भी।

धारम्भ में जनता युद्ध के विषय में कोई उल्हाह नहीं रिगानी। समाज के कुछ अग्रणी लोग उमकी कल्पना करते हैं तथाकि प्रतिशोप के भाव का बापय विभिन्न समुदाय के हृदय में होता है। मकिन जब युद्ध शमीप आने लगता है तब जनमगृह के भीतर की पासकिकता और पकड़ने लगती है। यह युद्ध-ज्वर एक प्रकार का सामूहिक मानसिक रोष बन जाता है।

नहीं होता। मनुष्य पहले तो सड़कर बिनाश भ्रंशता है फिर बाब को सद्य-भाषि के लिए वह धार्मिक उपायों से नये ढंग के विचार करने लगता है। बुढ़ से प्राप्त होनेवाला कोई एगम उतमा ध्येष्ठ नहीं माना जा सकता जो नाम धार्मिक से प्राप्त होता है। कोई भी विवेकान्ता वैदिक दृष्टि से यह नहीं कह सकता कि बुढ़ से उतमा सद्य पूर्ण हो गया है।

१—बय-सा कुछ टूट कर स्मृति से गिरा—स्मृति धारणा है। बय यह बाद आता है कि बुढ़ में धर्मिण्यु का बय धर्म्यायपूर्वक हुआ है।

द्वितीय सर्ग

१—भावी हुई मृत्यु से कहा धर्म्य भीष्म न—

भीष्म के पिता धातनु सरयवती नामक युवती पर प्राप्त हुए तो गये थे। उस युवती के साथ अपने पिता का विवाह करने के क्रम में ही भीष्म को धारण ब्रह्मचर्य निवासे की भीष्म प्रतिष्ठा करनी पड़ी थी। भीष्म के इसी कृत्य से प्रसन्न होकर राजा धातनु ने भीष्म को इच्छा-मरण का वरदान दिया या धीर कहा था कि तुम्हारी धनुमति पाये बिना मृत्यु तुम्हारे पास नहीं आवेगी।

२—बम्भी सिखा में दिया वृत्त भगवान ने—

धर्मुन जब मुद्वुमि में आया वह अपने विरोध में पड़े बुद्धियों धीर धिक् पनों को दैतकर बचत गया उसका शरीर कापने तथा गाण्डीन छतके हाथ से भरत होकर गिर गया। वह बिलपुत्र लड़ने को तैयार नहीं था। धर्मुन का मोह दूर करने को ही भगवान् भीष्म ने पीठा कही। तब कहीं जाकर धर्मुन बुढ़ के लिए तैयार हुआ। धर्मुन जो धान बुम्भी का रखी थी उसमें वृत्त डालकर भगवान् ने उसे प्रज्वलित कर दिया।

३—धर्मुनो विनष्ट किया एव धर्मिण्यु ने—

धरत बुढ़ का धारण केवल मुन प्राप्त करने को किया जाता तो बुढ़ के भिन्नाक को बलीमें है वे इतनी मजबूत हैं कि उनके कारण बुढ़ धर्ममय हो जाते। लेकिन बुढ़ व्यस्तितवत धर्म्या सामूहिक मुनों को दृष्टि में रखकर नहीं धारण किये जाते। उनका धारण सर्वत्र धर्म्य के कारण होता है, धर्मिण्यु के कारण होता है। धर्मिण्यु एगम में यह समय तकता था कि बाब बाब हैकर लम्बि करने

वा प्रस्ताव स्वीकरणीय और बांछनीय प्रस्ताव था। किन्तु उमरु प्रमिमान को यह प्रस्ताव स्वीकार्य नहीं हुआ। और महाभारत के काण्व मनुष्यता की वा पगार भनि हुई उमरु तो प्रच्छा मही वा कि पाण्डव राज्य पाने की इच्छा ही छोड़ देने। धार्मिक उतने बहु संश्राम का परिणाम क्या हुआ ? सम्यता के भीतर कपिमान वा उमरु।

४—मुठ प्रथम है—

पदबल ने गीता में कहा है मुठ में वा तो बीर-यनि प्राप्त होनी है धयवा निरुप। हनी वा प्राप्यति स्वर्ग जिस्वा वा नाभस महीम्। दोनों ही प्रवस्थाओं में मुठ पवित्र काय है।

१—इम में क्या है यही कौन किस पाव से ?

प्रमिमम्बुकी सात महारविषों न परकर माघ। श्रीप्य सिन्धी के द्वारा गिरये गये। इम को नि-यस्त्र बनाने के लिए युधिष्ठिर को भूठ बीजना पडा। मङ्गा काइकर इम जब समाधिमन् हा रहे ये बृष्धुम्न ने उमी समय उनकी गरदन काट ली। सात्यकि ने घुरिभवा का मस्तक उध समय काट लिया जब बहु लड़ना छोड़कर समाधि में बैठ गया था। महाभारत से भी यही सिद्ध होता है कि मुठ पवित्र माय पर रहकर लड़ा ही नहीं जा सकता।

२—नाहु-गनी पीत मुठे बीजती कपुठ है।

यह महारमा रानी की नाचना की प्रतिध्वनि है। वे धक्कर कहा करने से कि इिधा एवं रक्तपात के हाउ प्राप्त स्वराज्य मुठे स्वीकार नहीं हुआ। इिनीय बिबमुठ के समय उमूनि यह भी कहा था कि भारत वा स्वराज्य परि संदल और पेरित के मन्नाबरोप पर मिला भी ली ये उडका सर्त नहीं कर्कपा।

३—और तब उठता साकास भी।

साठ्म में बनता मुठ के विषय में कोई उल्लाह नहीं दिलाती। समाज के कुछ धरणी लोग उसकी बरतना करते हैं, क्याकि प्रतिघोष के भाव का योग्य सिद्धि मनुष्य के हृदय में होता है। मैनिन पर मुठ कभीप जाने लगता है तब जनमसूह के भीतर की बाणबिकता और पकड़ने लगती है। यह मुठ-अर एक प्रकार का नासूहिक मानसिक रोम बन जाता है।

हुआ था जिसने हृदय की सजहेसजा करके धपने की बुद्धि के शासन में आत दिया था। भीष्म सम्पत्ति ता पाण्डवों की थे किन्तु वह सम्पत्ति बुर्जोपन के म्पूह म पड़ी हुई थी। धर्जुन ने इन म्वाप-म्पूह को भ्रकर धपना बन प्राप्त कर लिया।

१—किन्तु बुद्धि ने मुझे धमित कर—

मनुष्य के भीतर अतन अथ कम अकथेठन अथ अथिक है। नेतना के सात हिस्से अकथेठन म दूबे हुए हैं। नेकस आठवाँ हिस्सा ऊपर महपता है जिसे इन मन या बुद्धि कहते हैं। बुद्धि को चाहेवी उसे हासिम कर लेपी किन्तु वह चाहेवी क्या यह उसे मामूम नहीं है। नेतना के सात हिस्से बीसे चाहेते हैं उसका आठवाँ हिस्सा बीसे ही हिलता है। इसीलिए रहस्यवाचियों ने बुद्धि को शंका से देखा है और अकथर पथ हृदय का लिया है। इकबाम ने कहा है —

को अकस का मुसाम हो को बिल न कर इकूम।

गुजर या अकस से धाने कि यह गूर

धिरागे-राह है, मञ्जिस गरी है।

पञ्चम सर्ग

१—आपर—

इसका आम्बिक अर्थ अंका है बुधिया है।

२—यह लगा बीड़न गोमित है—

राजमूव और अकथमिप मस अकथती पद प्राप्त करने के बहाने से। उन बच्चों में पौड़ा छोड़ा जाता था और पौड़े के पीछे सेना अमती थी अकथर कोई राजा पौड़े को पकड़ लेता था तो वही अड़ाई उन जाती थी। मज में अनेक गरियों का अल भी एकत्र किया जाता था।

३—हे पुषा कुन्तम म—

प्राचीन और मध्यकाल म प्रधापन का एक रूप यह भी था कि रमबियाँ अकथे धिर के बामो को सुखाने के लिए, उन्हें सुबन्धित तथा और भी काला बनाने के लिए, धगुरू के बुरे से संवती थी।

४—हम साथ हैं कोरब तीन उष है—
 इपाचार्य कृतबर्मा और प्रसवत्वामा य तीन बीर कोरबों की घोर ने । पाप
 मर्क पाण्डव मात्यकि घोर भीकृष्ण ये मात पाण्डवों की घोर ने ।

घट्ट सग

१—बुद्धि में रघिर की कीच—

मनुष्य का दुर्भाग्य यह है कि वह जो कुछ सोचता है उसे जी नहीं पाता
 पाण्डवों में उतार नहीं पाता । बैलना का घमिषाण पसुता स बैलब की घोर है ।
 प्राणमी पसु घोर देवता के बीच की कड़ी बनकर ठहरा हुआ है । मम से मनुष्य
 कभी-कभी देवता से भी घाग बड़ जाता है । तिम्लु उमरे घरीर में पाण्डविक
 श्रुतियाँ घब भी मरी हुई । मनुष्य की बाल्बिक उमति तब होगी जब
 बौद्धिक उमति के साथ उसके चरित्र की भी उमति हो ।

२—सोय उमरा उर की जीत ।

त्रिम सम्पत्ता य हम की रह है उमका भी घमिषाण यही है कि उमका
 बुद्धि-बल जितना अधिक विकास पा गया है उमके हृदय-बल का उतना विकास
 नहीं हो पाया है । कहना तो यह चाहिए कि इस सम्पत्ता में बुद्धि का जितना ही
 विकास होता है हृदय का बल उतना ही कम होता जाता है । नगरों की जितनी
 बढ़ती जाती है घाम उतने ही उपधित होते जाते हैं । होना यह चाहिए कि मनुष्य
 की मातमिक शक्तियाँ उमके हार्दिक गुणों (बपा मैत्री त्याग परोपकार) के प्रयोग
 रह ।

३—प्रमिण प्रजा वा ये प्रपबिच—

प्रमिण प्रपबिच क्या है ? मनुष्य के ज्ञान में बुद्धि प्रपबा उमके प्राणरज
 में सुधार ? प्राणमी वा क्या वा जानना या उसका मनी जिन्दगी बसर करना ?
 बोरे ज्ञान की निगदा बरने हुए महात्मा कबीर ने कहा था 'पण्डित से पदहा
 भला' । त्रिम प्राणिकारों से मनुष्य की शक्ति जतने में पड़नी है व प्राणिकार
 बुद्धि की प्रातिपाबाजी के योग है उमके मनुष्य के बीर में बुद्धि नहीं होती ।

४—छात्रमान मनुष्य स्मृति के पार ।

जिन शिक्षा कुम्भीय साम्य की रचना हो रही की जन्ही विनों द्विर्गण्य
 धीर नामासाही पर परमाणु बलों का पहल-गहन विस्फोट हुआ था । इस
 को स्मृति के पार फेंक देने की सलाह उस समय बबराहट में ही दी सलाह मनी
 गयी थी । किन्तु मात्र धमरीका धीर युगीय के बड़े-बड़े चिन्तक इस बात पर बनी-
 रखा से विचार कर रहे ? कि स्मृति के सभी रहस्य जानने के योग्य नहीं हैं । परने
 साम्यता यह की कि विज्ञान पर किसी भी प्रकार की रोक नहीं लगायी जानी
 चाहिए । मात्र सोचा यह था कि संसार को भिन्नकर कोई ऐसा कानून
 बनाना चाहिए जो विज्ञान को ऐसे आधिपत्याँ की धीर जाने से रोक सके जिन्हें
 नियंत्रण में रहने की नैतिक गति मनुष्य के पास नहीं है ।

५—साम्य की बहुरिम भगवान्

भूकिस मानस ने बर्ष को असीम बना है धीरसगमन सभी साम्यवादी नास्तिक
 हैं इसलिए यह मानना कि समाज में जहाँ भी समता जायी जायगी वहाँ
 नास्तिकता भी बर्ष्य रहेगी विज्ञान आन्य कारण है । हम ईस्वर से बहुव-सी
 बस्तुएँ माँगते हैं । उनमें हम यह भी माँच करते हैं कि हमें अस्ति धीर सद्बुद्धि
 दीजिये कि हम समाज के विषमता को दूर कर सकें ।

सप्तम संग

१—उत्तम देव योगी ।

वाम योग साधन पर धीर माह ये ही पंच पावन हैं जिनसे बचने के लिए
 योगी पर का छाहकर बनवास करने जाता है ।

२—गोत्रते इमे ही मित्र पर है ।

मित्र्यु को मयकर एत निषामना यह मनुष्य की आधिपतीय समुद्रि के
 निर्मिते जाने वाम पुष्टपाप का प्रतीक है । व्योम में ज्ञान के घर फटना यह
 आध्यात्मिक साधना का प्रतीक है ।

३—गोत्रते इमे ही किय पतक वनर ? ।

आधुनिक युग में जो विश्व युद्ध हुए, उनका रहस्य यही था कि धन जाने
 कोई युद्ध न हो ।

